जागोरी की द्विमासिक पत्रिका

नवम्बर–दिसम्बर 2008

हम सबला

इस अंक में

दहेज की विरासत, नई चुनौतियां

हम सबला

नवम्बर-दिसम्बर 2008

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
जया श्रीवास्तव
कल्याणी
खुर्शीद अनवर
सीमा श्रीवास्तव

मुख पृष्ठ
कृतिः चंद्रलेखा–
"BURNT TO DEATH – भारतीय नारी"
साभारः पोस्टर, विमेन-ए विज़ुएल हिस्ट्री ऑफ़ द विमेंस मूवमेंट इन इण्डिया

रेखा चित्र
प्रशांत ए.वी.

पेज सज्जा व मुद्रण
सिस्टम्स विज़न
दूरभाष 26811195
ई-मेल systemsvision@gmail.com

बी 114 शिवालिक, मालवीय नगर
नई दिल्ली 110017
ई-मेल jagori@jagori.org
वेबसाइट www.jagori.org
दूरभाष 26691219, 26691220
हेल्पलाइन 26692700

इस अंक में

हमारी बात 1

लेख
- दहेजः एक ऐतिहासिक समीक्षा — एम एन श्रीनिवास — 2
- भारत का भौगोलीकरण व महिला हिंसा — रंजना कुमारी — 6
- धार्मिक मान्यताएं और दहेज — जया श्रीवास्तव — 10

आमने-सामने
- आखिर दहेज विरोधी आन्दोलन असफल क्यों रहा? — फ्लेविया ऐगनिस — 13
- कानूनन हक़ है गुज़ारा भत्ता — कमलेश जैन — 31
- मां-बाप समझ जाएं कि दहेज क्या है — सांवरा — 36

कहानी
- चौथी का जोड़ा — इस्मत चुगताई — 20

कविता
- स्त्री-सुबोधिनी — पवन करण — 12
- समाप्त होती तितलियां — सविता सिंह — 9

संवाद
- दहेज बहिष्कार पर पुनर्विचार — मधु पूर्णिमा किश्वर — 16
- दहेज से पार पाएं, पर कैसे? — कल्पना शर्मा — 27
- चुनाव हमें ही करना है — जुही जैन — 29

अभियान
- महिलाओं की अदालतः वैकल्पिक न्याय का एक प्रयास — 33
- महिला हिंसा के ख़िलाफ़ सामुदायिक अगुवाई — 34

फ़िल्म समीक्षा
- तीसरा रास्ता — जुही जैन — 37

पुस्तक समीक्षा
- डाउरी मर्डरः द इम्पीरियल ऑरिजिन्स ऑफ़ ए कल्चरल क्राइम — जुही जैन — 39

नया प्रकाशन
- जागोरी नोटबुक 2009 औरत और श्रमः हक़ और सम्मान — 32

हमारी बात

पितृसत्तात्मक समाज में 'दहेज' शब्द महिलाओं के कमतर व दोयम दर्जे का प्रतिबिम्ब है और उत्पादन ढांचे में उनके श्रम की नगण्य कीमत का भी सूचक है।

इस बात में दो राय नहीं हैं कि दहेज प्रथा हमारे समाज में व्यापक रूप से फैली है। भौगोलीकरण व उपभोक्तावाद के चलते दहेज के सामान में नित नए तकनीकी उपकरण, साज-सिंगार के विदेशी सामान, हीरे के ज़ेवर और आरामदायक जीवन जीने के सभी साधन शामिल किए जा रहे हैं। भयावह रूप से फैलती सीमाओं की, सीमित आय में भरपाई करने के लिए लड़की के परिवार समझौते करने को बाध्य हैं। पर हैरत इस बात की है कि वर पक्ष को दहेज देने के बावजूद वधू परिवार अपनी बेटी के जीवन की सुरक्षा व सम्मान की गारंटी नहीं जुटा पाता। दहेज की भारी कीमत लड़कियां दहेज हत्या से चुकाती हैं। या फिर ससुराल वाले उन्हें वापस मायके रहने भेज देते हैं।

भारतीय समाज में दहेज प्रथा एक प्राचीन परम्परा है। मानव विज्ञानियों के अनुसार विवाह के समय दिया गया दहेज व उपहार दरअसल समुदायों के बीच आपसी सामाजिक संबंधों को मज़बूत बनाने का प्रयास था। कुछ लोगों का मानना है कि ये परिवारों के सामाजिक दर्जे का प्रदर्शन या फिर स्त्री के श्रम के अधिकार को पाने का तरीका था। पश्चिमी विचारकों का कहना है कि दहेज के माध्यम से परिवार बेटियों को अपनी सम्पत्ति हस्तांतरित किया करते थे। यह महिलाओं के अपने उपयोग के लिए एकत्रित किया कोष भी माना जाता था जिसे वे अपनी मर्ज़ी से चला सकती थीं।

कुछ सामाजिक विचारकों का मानना है कि दहेज महिलाओं का उत्तराधिकार हक़ है जो विवाह के समय दिया जाता है। चूंकि विवाह के बाद लड़कियां ससुराल चली जाती हैं और लड़के मां-बाप की देखभाल करते हैं, इसलिए लड़कियों के जायदाद के एक छोटा सा हिस्सा दहेज के रूप में दिया जाता है।

हमारी नज़र में दहेज को उत्तराधिकार हक़ की तरह नहीं देखा जा सकता। एक, बेटियों को मिलने वाला दहेज और बेटों को दिया जाने वाला सम्पत्ति अधिकार एक बराबर और समान नहीं होता। दूसरा, जिन मामलों में लड़कियां दहेज नहीं लेतीं वहां भी उन्हें जायदाद में हिस्सा नहीं मिलता जबकि कानूनी रूप से यह उनका वैध अधिकार है। औरतों का यह अधिकार वंचन उन्हें बाध्य करता है कि वे विवाह को अपनी आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा के रास्ते के रूप में देखें और तमाम ज़िल्लत व हिंसा झेलकर भी शादी के संबंध को बनाए रखने की कोशिश करें। हमारा मत है कि हम सबको मिलकर दहेज प्रथा को बंद करने के लिए ठोस कदम उठाने चाहिए। पर विशेषज्ञों और समाजशास्त्रियों का विचार है कि दहेज लेन-देन का अपराधीकरण व इस प्रथा को खत्म करने का सामाजिक दबाव इस समस्या का आधा-अधूरा और अनुपयुक्त समाधान है। इसलिए दहेज प्रतिबंध के लिए कानूनी प्रावधान भी इसे रोकने में सफल नहीं हो पाए हैं।

महिला आंदोलन ने इस समस्या से निपटने के लिए समाज में एक व्यापक बदलाव लाने की मांग की है। महिला संगठनों का मानना है कि दहेज को एक पृथक, सामाजिक अभिशाप मानकर नहीं देखा जा सकता। इसे समाज में सम्पत्ति, श्रम और विवाह ढांचे में मूल परिवर्तन की ज़रूरत के साथ जोड़ा जाना ज़रूरी है। पूंजीवाद के प्रभाव और लैंगिक भेदभाव के संदर्भ में दहेज समस्या का हल ढूंढ़ा जाने पर ही सफलता हासिल की जा सकती है। हमारा यह भी मानना है कि दहेज का विरोध करने के साथ-साथ हमें लड़कियों के लिए समान उत्तराधिकार कानून की भी मांग पर ज़ोर देना होगा। लड़कियों के प्रति समाज के रवैयों मे मूल बदलाव और विवाह को औरतों की सुरक्षा का एकमात्र साधन न मानते हुए आगे बढ़ने से ही समस्या हल की जा सकती है।

-जुही

लेख

दहेज: एक ऐतिहासिक समीक्षा

एम एन श्रीनिवास

दहेज के विषय में वैचारिक समझ बनाने के लिए विभिन्न जातियों व क्षेत्रीय आधार पर दहेज के बदलते स्वरूप की समीक्षा करना महत्वपूर्ण हो जाता है। साथ ही दहेज को एक पृथक विषय की तरह न देखकर इसमें शामिल दोनों सम्बन्धी समूहों के अंतर्संबंधों की जानकारी पर गौर करना भी ज़रूरी है। इन दोनों बातों की विस्तृत जानकारी व विश्लेषण ही दहेज प्रथा को जड़ से मिटाने की दिशा में पहला कदम है। इस जानकारी से हमें जातिवर्ग समूहों, उनकी आमदनी, खर्च, आर्थिक बर्ताव व निम्न वर्गों द्वारा उच्च वर्गों के व्यवहार के अनुकरण के फलस्वरूप दहेज प्रथा के विस्तार पर भी गौर करने में आसानी होगी।

जब हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में दहेज की बात करते हैं तो उत्तरी भारतीय व दक्षिण भारतीय दहेज परम्पराओं के बीच अन्तर करना ज़रूरी हो जाता है। उत्तरी भारत में परम्परागत रूप से अपनी ही जाति के उच्च कुल के पुरुष के साथ विवाह करने का चलन है। कई बार उच्च या वरिष्ठ कुल के मानक स्पष्ट नहीं होते परन्तु यह माना जाता है कि लड़की का विवाह 'श्रेष्ठ' पुरुष के साथ किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि बेटी का विवाह अपने से आर्थिक रूप से बेहतर घराने में किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध का एक उद्देश्य यह भी होता है कि उच्च कुल के साथ वैवाहिक रिश्ता कायम करने से लड़की वालों के सामाजिक दर्जे में बढ़ोत्तरी होती है। जहां वधू-पक्ष विवाह के ज़रिए अपना सामाजिक दर्जा बेहतर बनाते हैं वहीं वर-पक्ष धन, गहने, कीमती कपड़े, साज-सामान अर्जित करके अपना भौतिक-आर्थिक दर्जा बढ़ाते हैं।

इस तरह के विवाह सम्बन्धों के पीछे एक सोच यह भी काम करती है कि दूसरे, पराए कुल में अपनी बहन या बेटी के सुख के बदले वर-पक्ष को यथायोग्य आथित्य, तोहफे व आराम के साधन मुहैय्या कराए जा सकें। इसी सोच के चलते शादी के खर्चे और दहेज के सामान की क्वालिटी अच्छी से अच्छी रखी जाती है। साथ ही शादी के बाद कन्या को भेजे जाने वाले उपहार व सामान का भी विशेष रूप से चयन किया जाता है।

इसके विपरीत दक्षिण भारतीय परम्पराओं में वर-वधू के कुलों के बीच सामाजिक दर्जे पर समानता तलाशी जाती है। यहां समयुग्मकी विवाह का चलन अधिक पाया जाता है जिसमें परिवार के अन्दर ही दूर-दराज की रिश्तेदारियों में वर-वधू खोजे जाते हैं। इसके अलावा दक्षिण भारत के कुछ समुदायों में वधू के बदले उसके परिवार को कुछ धनराशि दी जाती थी जिससे रिश्तों में वधू-पक्ष का

पलड़ा भारी हो जाता था। कई-कई दफ़ा तो वधू-पक्ष वर-पक्ष को गहने, कपड़ों की एक लम्बी फेरहिस्त प्रदान करता था जिसका इंतज़ाम वर-पक्ष को करना पड़ता था। इस रिवाज का कतई अर्थ यह नहीं था कि अदायगी सिर्फ़ वर-पक्ष द्वारा की जाती थी। चूंकि विवाह वधू के घर आयोजित किया जाता था लिहाज़ा मेहमानों की देखभाल, व सेवा सत्कार का ज़िम्मा वधू-पक्ष पर था। वर-पक्ष विवाह के बाद वधू को अपने घर लाकर बिरादरी को एक महाभोज के लिए आमंत्रित करता था। यानी विवाह का अधिकांश खर्चा वधू-पक्ष के हिस्से में आता था।

विवाह एक ऐसा अवसर है जहां दोनों सम्बन्धी-कुल उपहारों का लेन-देन करते हैं। पर इन लेन-देनों में समानता नहीं होती, किसी एक पक्ष की ओर आमतौर पर झुकाव ज़्यादा होता है। इसके अलावा विवाह के बाद भी काफी अर्से तक लेन-देन की यह प्रक्रिया चलती रहती है। उदाहरण के लिए भारत के कुछ हिस्सों में स्त्री की जचगी मायके में करने का चलन है। जचगी के बाद स्त्री वापस ससुराल जाते समय अपने ससुराल वालों के लिए उपहार व सामान लेकर जाती है जिसका खर्चा मायके वाले वहन करते हैं। इन उपहारों में गहने, कपड़े, खाने-पीने की सामग्री, अनाज इत्यादि शामिल होते हैं।

उत्तरी भारत में उच्च जाति विवाहों में वधू-पक्ष की ओर से वर-पक्ष के लिए दहेज में धन, सामान आदि की प्रथा सालों से प्रचलित है। वही दक्षिण भारत में दहेज प्रथा का विकास एक बिल्कुल नवीन प्रक्रिया है। इस लिहाज़ से आज के दौर में उत्तरी व दक्षिण भारतीय दहेज परम्पराओं में विशेष फ़र्क़ नहीं देखा जा सकता।

आधुनिक समाज में दहेज समुदाय की आर्थिक सम्पन्नता, खुशहाली और संगठित क्षेत्रों तक पहुंच का महत्वपूर्ण आयाम है। कुछ सदियों तक औरतों के लिए विवाह ही जीवन का अंतिम लक्ष्य था सिवाय कुछ गरीब कामकाजी वर्गों को छोड़कर जहां औरतें दिहाड़ी पर काम करती थीं। कामकाजी और ऊंचे ओहदों पर कार्यरत लड़कों की मांग विवाह के लिए की जाती थी। वे 'दुर्लभ' थे और इसलिए लड़कियों की शादी जल्दी से जल्दी व अपनी जाति के दायरे के अन्दर की जाती थी। वर के परिवार वालों की साईकिल, ऊनी सूट आदि की मांगे भी शादी के समझौते के तहत पूरी की जाती थीं। दहेज रूपी दानव की इन्हीं प्रथाओं के माध्यम से उत्पत्ति हुई थी।

आज दहेज के रूप में मोटी रकम-अधिकांश कई लाखों में, के साथ-साथ फर्नीचर, कीमती कपड़े व भारी गहने भी वधू के कुल से वर के परिवार भेजे जाते हैं। इसके अलावा वधू-पक्ष, वर-पक्ष व ब्याह के सारे खर्चे, जिसमें यात्रा खर्च भी शामिल होता है वहन करता है। उस पर वर-पक्ष को हक़ है कि वह कोई भी अप्रत्याशित मांग वधू के परिवार के सामने रखे और जिसे पूरी करना विवाह के लिए अनिवार्य समझा जाता है। मसलन वर-पक्ष वाले बारातियों के स्वागत के लिए स्कॉच शराब की मांग करें तथा देसी विस्की को पीने से इंकार कर दें। पुराने समय में ऐसी अतिरिक्त मांगे गौने के अवसर पर या गर्भवती स्त्री की गोद भराई की रस्म या फिर विदा या सुहागरात से पहले की जाती थीं। इन मांगों को पूरा न करने का अर्थ था उस रस्म की अदायगी में देर जो कि वधू-पक्ष के लिए धमकी व दबाव का काम करती थी।

भारतीय विवाहों में वर-पक्ष वधू-पक्ष के वैवाहिक इन्तज़ाम में मीन-मेख निकालते हैं चूंकि वे मानते हैं कि उनकी सेवा टहल करना वधू-पक्ष का कर्तव्य है। वे अचानक किसी भी तरह की मांग लड़की वालों के सामने

भारत में ऊंची जाति विवाहों में दिया जाने वाला दहेज एक आधुनिक प्रथा है जिसे कन्यादान व स्त्रीधन जैसे परम्परागत रिवाजों की तरह नहीं देखा जा सकता। दान के साथ 'दक्षिणा' देना एक आम रिवाज है और कन्यादान में वधू, वर को 'उपहारस्वरूप' दी जाती है। इस विश्लेषण के अनुसार दहेज दक्षिणा बन जाता है। स्त्रीधन शब्द उन सभी तोहफ़ों के लिए उपयोग किया जाता है जो स्त्री को अपनी शादी में मिलते हैं। पर आधुनिक दहेज न तो कन्यादान है, न ही स्त्रीधन क्योंकि इसकी मांग सीधे या परोक्ष रूप में वर-पक्ष द्वारा की जाती है। इसे उपहार समझना सच्चाई से मुंह फेरना होना।

रख देते हैं और जिन्हें पूरा करना वधू-पक्ष की मजबूरी है, क्योंकि उनका दर्जा वर-पक्ष से नीचा माना जाता है। इस दहेज में गहने, साड़ियां शामिल की जाती हैं जिस पर वधू का नियंत्रण सुनिश्चित करना मुश्किल होता है। परम्परागत रिवाज में ये सभी चीज़ें स्त्री की मिल्कियत थीं जिन्हें वह अपने बाद अपनी बेटियों को देती थी। अगर उसकी इन गहनों में से उसका पति कुछ बेचता था तो उसे दोबारा बनवाकर देना भी उसकी ज़िम्मेवारी थी।

भारत के गुजराती देसाई ब्राह्मणों में दहेज विवाहों को ही सबसे उपयुक्त समझा जाता है। वधू के घरवालों को कुछ धनराशि देकर या फिर अदला-बदली ब्याह इस समुदाय में उचित नहीं माने जाते। दहेज विवाहों की इस समुदाय में इतनी प्रतिष्ठा है कि देसाई ब्राह्मणों की पहचान इस बात से की जाती है कि उस परिवार में कितने दहेज विवाह हुए हैं। यहां दहेज विवाह और कन्यादान विवाहों को समान समझा जाता है तथा वर-पक्ष को विवाह में काफी दहेज दिया जाता है। इस समुदाय का मानना है कि विवाह सम्बन्धों में आर्थिक मुनाफ़ा नहीं ढूंढा जाना चाहिए। यहां दहेज के मायने है बेटी स्वरूप 'उपहार' के साथ दी जाने वाली 'दक्षिणा'। यह दक्षिणा तब भी दी जाती है जब वर-पक्ष का कुल वधू-पक्ष से कमतर हो। यानी दहेज, कन्यादान परम्परा का अभिन्न अंग है और इस लिहाज़ से आधुनिक दहेज शैली से अलग है।

आधुनिक दहेज, शिक्षा, पूंजीवाद तथा संगठित क्षेत्र के सम्मिलित दबावों का नतीजा है जिस पर अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव है। वर-पक्ष द्वारा वधू-पक्ष से ली गई दहेज की बड़ी नकद रकम, गहनों, कपड़ों, फर्नीचर व आधुनिक उपकरणों की मांग की 'दक्षिणा' जैसे पारम्परिक और सम्मानयुक्त रिवाजों के साथ तुलना करना महज इस आधुनिक अभिशाप को वैधता प्रदान करने की कोशिश है। हैरानी तो इस बात की है कि स्पष्ट तौर पर दिखने वाले इस सफेद झूठ को सामाजिक मान्यता व सफलता मिल रही है।

अंग्रेज़ों के पूर्वकाल में प्रचलित 'दहेज' परम्परा व 'आधुनिक दहेज' चलन के बीच अन्तर को भी स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिए। प्राचीन दहेज परम्परा अधिकांश रूप से कुलीन ब्राह्मण समुदायों में प्रचलित थी जिसमें युवक अशिक्षित व पुरोहिताई थे। इस वर्ग के धनी दहेज देकर मनचाहे वर पाने का प्रयास करते थे जबकि इसी वर्ग के गरीब तबके के परिवार वधू-मूल्य अदा करके या फिर अदला-बदली ब्याह के पक्षधर थे। उदाहरण के लिए मध्य गुजरात के ज़मींदार देसाई/पाटीदर दहेज देते थे और गरीब पाटीदर व भटेला वर्ग वधू-मूल्य चुकाते थे। दक्षिण गुजरात में रहने वाले गरीब, परडी देसाई अदला-बदली विवाह रचाते थे जिनमें एक घर के लड़के-लड़की की शादी दूसरे घर के लड़की-लड़के से की जाती थी। पर पिछले दो दशकों में आर्थिक सम्पन्नता के चलते इस वर्ग में भी दहेज प्रचलित हो गया है। यहां दहेज के सामान में वर-पक्ष आधुनिक तकनीकी उपकरण की मांग रखते हैं। उदाहरण के लिए तमिल ब्राह्मणों में विवाह का वीडियो कैसेट बनाने की मांग ज़ोरों से प्रचलित होती जा रही है। इस चलन को 'कारगो कल्ट' के नाम से जाना जाता है।

दहेज की रीति के साथ जुड़े एक अन्य पहलू पर भी गौर करना आवश्यक है। गरीब लड़की के माता-पिता दहेज देकर उच्च वरिष्ठ वर्ग में बेटियों का ब्याह रचाते हैं जबकि गरीब लड़के वाले वधू-मूल्य देकर अपने ही वर्ग की लड़कियों से विवाह करते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वरिष्ठ वर्ग में विवाह करने की चाह के कारण गरीब लड़कों के लिए अपने वर्ग में वधू तलाशना मुश्किल हो रहा है। दूसरी ओर वरिष्ठ वर्ग बहुविवाह या फिर विधुर/तलाकशुदा होने पर भी विवाह कर पाते हैं।

दहेज की बात करते समय वधू-पक्ष का अपनी जाति के अन्दर, परन्तु सम्पन्न व उच्च कुल के वरों की खोज जिससे वधू-पक्ष के परिवार का दर्जा व रुतबा दोनों में बढ़ोत्तरी हो सके की अहमियत को बारीकी से समझना विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। आजकल निम्न जातियों में वधू-मूल्य की जगह अब दहेज का चलन शुरू हो गया है खासकर क्योंकि अब इस वर्ग की महिलाएं भी घर के बाहर उत्पादन सम्बन्धी कामों में जुड़ रही हैं।

दहेज की समझ बनाने के लिए दहेज और जाति के अंतर्सबंधों को भी समझना ज़रूरी है। ऐसा देखा गया है कि निम्न जातियों को उच्च जातियों की परम्पराओं और

रिवाजों की नकल करने की इजाज़त नहीं होती। अगर वे ऐसा करने का प्रयास करते हैं तो ऊंची जाति का दबाव उन्हें रोकता है। मसलन सूरत के देसाई समुदाय ने निम्न वर्ग के भटेला समुदाय पर वधू-मूल्य के स्थान पर दहेज लेने से रोक लगाई। एक गरीब देसाई, धनी भटेला वधू परिवार से दहेज ले सकता था परन्तु भटेला पुरुषों को दहेज लेने की इजाज़त नहीं थी। पर दूसरी ओर ऊंची जाति को अपने से वरिष्ठ जाति वर्ग के रिवाज अपनाने की स्वतंत्रता थी। उदाहरण के लिए मैसूर के ओकल्लिगा समुदाय ने शिक्षा व आर्थिक सम्पन्नता हासिल करके 1930 में वधू-मूल्य की जगह दहेज लेना शुरू किया। उनके अनुसार वधू-मूल्य के मायने लड़की को बेचना था। 1950 आते-आते इस समुदाय में वधू-मूल्य प्रथा समाप्त हो गई थी। धीरे-धीरे इस वर्ग के शिक्षित युवकों ने दहेज लेन-देन का रिवाज अपना लिया।

भारतीय विवाह एक ऐसा अवसर है जब परिवार जी खोलकर खर्चा करते हैं जिससे उनकी शान बनी रहे। जिस परिवार का दर्जा जितना ऊंचा, खर्च भी उतना बड़ा। विवाह के मौके पर नाते-रिश्तेदारों, दोस्तों व समुदाय के तमाम लोगों को बुलाया जाता है और यह विशेष ख्याल रखा जाता है कि इस अवसर पर रिश्तों को मज़बूत बनाने के अथक प्रयास किए जाएं। विवाह के दौरान दोनों सम्बन्धी परिवार एक दूसरे के मान-सम्मान व परिवार के ओहदे का खास ध्यान रखते हैं। वधू-पक्ष, वर-पक्ष को प्रभावित करने के लिए अपना पूरा ज़ोर लगा देते हैं क्योंकि किसी छोटी सी चीज़ से असंतुष्टि सम्बन्ध में कटुता घोल सकती है।

शादी के कपड़ों, गहनों, नकदी के अलावा वधू-पक्ष को दो-तीन महाभोज का आयोजन करना पड़ता है। साथ ही बारातियों के रहने-खाने, सुख सुविधाओं का भी खास ख्याल रखना पड़ता है। शामियाना, लाईट्स, बैंड, संगीत, बारात, आतिशबाजी, मेहमानों को उपहार का अतिरिक्त खर्च तो वहन करना भी वधू-पक्ष की ज़िम्मेदारी है।

कहने की तात्पर्य यह है कि विवाह के आयोजन में संसाधनों का भारी तादाद में इस्तेमाल किया जाता है। दहेज की रकम कोई आवर्ती निवेश नहीं है। वर-पक्ष इसको किसी भी तरह इस्तेमाल कर सकता है। इससे वधू के लिए ससुराल में सुरक्षा, मान, प्यार सुनिश्चित करना भी नामुमकिन है। साथ ही इस बात की कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती कि दहेज की मांग पूरी होने पर वर-पक्ष कोई और नई मांगे नहीं रखेंगे।

वधू-मूल्य जहां एक तयशुदा रकम थी और उसके साथ संलग्न उपहार-सामग्री भी पूर्व निर्धारित थी वहीं दहेज के साथ अनिश्चितता, असमानता व अननुमियता जुड़ी है। सब ज़िम्मेदारियों व खर्चों का बोझ वधू परिवार का होता है और यह नहीं कहा जा सकता कि किस समय वर-पक्ष क्या मांग करेगा। विवाह के बाद जचगी या किसी तीज-त्योहार के मौकों पर भी गहने, कपड़ों, धन या अन्य मांग की जा सकती है जिसे पूरा न करने पर लड़की को सताया-दबाया व प्रताड़ित किए जाने की संभावना रहती है।

वधू-पक्ष की अपना रुतबा बढ़ाने की ख्वाहिश और वर-पक्ष की मांग के अलावा ब्याह पर भव्य खर्चे का एक और कारण है समुदाय और समाज में अपनी साख स्थापित करना। उपभोक्तावाद, दिखावे और भौतिकवाद के दौर में दहेज को बढ़ावा देने वाले इस कारक को भी आंकना बेहद आवश्यक हो जाता है।

जे.पी. नायक मेमोरियल लेक्चर, 1983, सेंटर फ़ॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज़ के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित

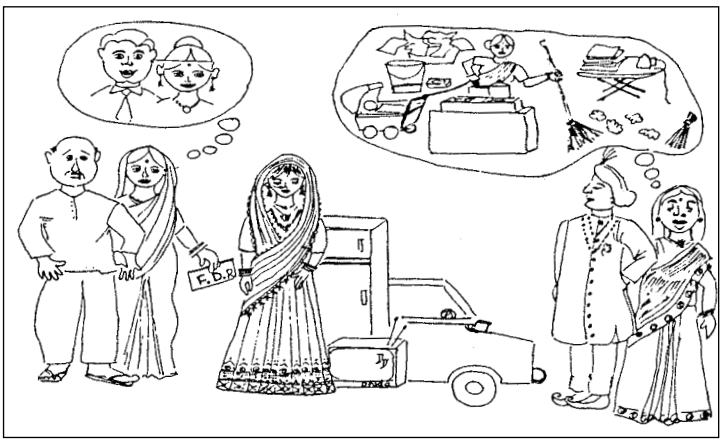

साभार: लॉफ़िंग मैटर्स, जागोरी

लेख

भारत का भौगोलीकरण व महिला हिंसा

रंजना कुमारी

समस्त विश्व पर फैली भौगोलीकरण की प्रक्रिया का अदृश्य प्रभाव विवाह और परिवार को पुनर्भाषित करने में भी दिखाई दे रहा है। बाज़ारवाद व भौगोलीकरण परिवार के ढांचे व विवाह के नियमों को प्रभावित कर रहा है। एक ईकाई के रूप में परिवार व विवाह के ढांचे के अब नए मायने हैं। बड़े, संयुक्त परिवार छोटे 'स्वायत्त परिवार' या एकल व्यक्तिगत परिवारों में तब्दील हो गये हैं। इस बदलाव के सकारात्मक व नकारात्मक दोनों नतीजे हैं। एक ओर इस नई आज़ादी के चलते इस प्रक्रिया को सहजता से अपनाया जा रहा है और छोटे परिवार ज़्यादा प्रजातंत्रीय और जीने की बेहतर सुविधाएं अपने सदस्यों को मुहैय्या करा पाते हैं। औरतों को नौकरी की स्वतंत्रता और भौतिक ज़रूरतें पूरी करने के साधन मिल पाते हैं।

पर दूसरी ओर शिक्षा, कानूनी सुधार राजनैतिक सत्ता, आर्थिक स्वायत्तता के साथ अपनी कमाई पर नियंत्रण व संसाधनों पर हक़ औरतों के पास मौजूद नहीं है और वे हिंसा व भेदभाव झेलती हैं। वे सार्वजनिक क्षेत्र में कदम तो रखती हैं पर पारिवारिक पितृसत्तात्मक मूल्यों का दबाव उन पर वैसा ही बना रहता है। परिवार के भीतर उन पर होने वाली हिंसा पर भी खामोशी छाई रहती है। पुराने सामाजिक नियमों और पारम्परिक मूल्य जिनसे परिवारों के अंदर औरतों को सहयोग मिलता था, भी धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं।

आंकड़ों के अनुसार बाज़ारवाद व भौगोलीकरण का एक सीधा प्रभाव औरतों पर बढ़ती घरेलू हिंसा के रूप में उभर रहा है। इसलिए महत्वपूर्ण यह है कि हम ये समझने का प्रयास करें कि भौगोलीकरण, बाज़ारवाद और परिवर्तनशील सामाजिक ढांचों का प्रभाव औरतों के ऊपर नियंत्रण व अधिक हिंसा के रूप में हो रहा है या फिर इस प्रक्रिया से औरतों में नई सशक्तता का संचार होता है जिससे वे पितृसत्तात्मक दमन को चुनौती देने और हिंसा से संघर्ष करने में अधिक सक्षम होती हैं। अपने इस लेख में मैं भौगोलीकरण व बाज़ारवाद का परिवार व विवाह के बदलते स्वरूप पर प्रभाव तथा भारत में बढ़ती घरेलू हिंसा से उसके संबंध को समझने का प्रयास कर रही हूं।

भारतीय समाज में घरेलू हिंसा

महिलाओं के ख़िलाफ़ हिंसा के आंकड़े 2003 में नई ऊंचाइयों तक पहुंच गये थे। इस वर्ष 132720 घरेलू हिंसा के केस दर्ज किये गये थे। इसमें से 6285 दहेज हत्याएं व 2532 मामले दहेज प्रतिरोधक कानून की अन्य धाराओं के तहत दर्ज थे। 40287 मामले विवाहित स्त्री पर पति व रिश्तेदारों द्वारा हिंसा के थे। सेंटर फ़ॉर सोशल रिसर्च के एक शोध के अनुसार भारत में पांच करोड़ विवाहित स्त्रियां घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं और हज़ार में एक केस दर्ज किया जाता है। हर सौ मामलों की भारतीय दंड संहिता की धारा 498 ए के तहत पड़ताल की जाती है जिनमें से केवल दो अभियुक्तों को सज़ा होती है। भारत में दर्ज हिंसा के ये मामले सिर्फ़ सतही हैं और अधिकांश केस सामाजिक और ढांचागत रूप से अदृश्य ही रहते हैं। दर्ज किए मामले परिवार में होने वाली हिंसा का एक छोटा सा ही भाग हैं। उदाहरण के लिए 1998-99 में एनएफ़एचएस-2 शोध के आंकड़ों के अनुसार 15-49 वर्ष के बीच की 9000 महिलाओं में से 17102 अपने पति के हाथों हिंसा झेलती हैं। हर पांच में से एक महिला अपने जीवन के दौरान पति के हाथों शारीरिक हिंसा झेलती है। यूएनएफ़पीए के आंकड़ों के हिसाब से भारत की 40 प्रतिशत महिलाएं विवाह के बाद हिंसा सहती हैं। मुंबई के महिला व बाल विभाग की विशेष शाखा के आंकड़े दर्शाते

हैं कि 43 प्रतिशत औरतें हिंसा को 3-17 वर्ष तक सहती रहती हैं और उसके बाद ही शिकायत दर्ज करने के बारे में सोचती हैं।

परिवर्तनशील वैवाहिक ढांचा

मूल सामाजिक मूल्यों व ढांचों में भौगोलीकरण के फलस्वरूप आये बदलावों के कारण वैवाहिक ढांचों में परिवर्तन आ रहे हैं। पारम्परिक व समकालीन वैवाहिक ढांचों को एक दूसरे के सामने रखकर हम इन बदलावों को समझ सकते हैं। पारम्परिक विवाह आपसी रज़ामंदी से दो परिवार के बुजुर्ग तय करते थे। ये रिश्ते पंडितों या रिश्तेदारों के माध्यम से जुड़ते थे। इन विवाहों में वर-वधू की विवाह से जुड़े फैसलों में कोई खास भूमिका नहीं थी।

समकालीन शादियां वर-वधू की आपसी रज़ामंदी और बुजुर्गों की सहमति पर आधारित होती हैं। इनमें दो परिवारों का नहीं बल्कि दो व्यक्तियों का एक दूसरे के साथ तालमेल बैठना अधिक मायने रखता है। अब बिचौलियों का काम मैरिज ब्यूरो, अखबार, इंटरनेट के ज़रिए किया जाता है और वर-वधू का चुनाव राष्ट्रीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक किया जाता है। पारम्परिक विवाहों में जहां लड़की के रंग रूप पर विशेष ध्यान दिया जाता था, वहीं आजकल सुन्दरता और शारीरिक विशेषताओं के साथ-साथ वधू की आर्थिक-मानसिक विशेषताओं व वर की आमदनी, व्यवसाय और आर्थिक दर्जे का विशेष महत्व है।

पुराने ज़माने में परिवार के सदस्य संयुक्त रूप से रहते थे इसलिए आपसी रिश्तेदारी में से ही विवाह के लिए वर-वधू का चयन किया जाता था। पर जैसे-जैसे संयुक्त परिवार टूटने लगे और नौकरीपेशा लोग शहरों में बसते गये यह चलन कम होता चला गया। आजकल अखबार और इंटरनेट ने पारम्परिक पंडित व पुरोहित की भूमिका ओढ़ ली है। मैरिज ब्यूरो भी इस काम में माहिर हो गये हैं। आपके सामर्थ्य के अनुसार वे 'सही इश्तिहार', लड़के-लड़की बारे में खोजबीन, परिवारों के बीच मीटिंग, ब्याह के नियम आदि पर रज़ामंदी आदि सभी करने को राज़ी हो जाते हैं। वे विवाह का इंतज़ाम भी करते हैं और शादी की कुल लागत का कुछ प्रतिशत अपनी फीस के तौर पर लेते हैं। उनका व्यवसाय तरक्की कर रहा है क्योंकि वे बाज़ारवाद के झुकाव की समझ बनाकर अपना काम के तरीकों में परिवर्तन करते रहते हैं। अगर आप कोई अखबार या इंटरनेट पर मौजूद शादी के विज्ञापनों पर एक नज़र डालेंगे तो पाएंगे कि धर्म, जाति और गोत्र अभी भी विवाह संबंधों में अहमियत रखते हैं। विज्ञापन, क्षेत्र व जाति के आधार पर छापे जाते हैं और कई परिवार अपनी जाति व गोत्र वाले परिवारों से संबंध बनाना पसंद करते हैं। फ़र्क़ केवल शादी के तरीके, इंतज़ाम आदि में महसूस किया जाता है। वर-वधू के चुनाव के मापदण्ड आज भी संकुचित ही हैं।

विवाह, बाज़ार व दहेज से जुड़ी हिंसा

भौगोलीकरण का एक मुख्य प्रभाव है आराम के उपकरणों और सुविधा प्रदान करने वाले भौतिक सुखों की भरमार। आजकल बाज़ार में तरह-तरह के घरेलू उपकरण जैसे फ्रिज, टीवी, म्यूज़िक सिस्टम, डीवीडी उपलब्ध हैं। वधू परिवार से अपेक्षा की जाती है कि वह विवाह के समय दहेज में इन उपकरणों के आधुनिक मॉडल दें। परिवार की इज़्ज़त और दर्जा इसी पर निर्भर करता है। बाज़ार के रूख के अनुसार दहेज के इस सामान की सूची में फेरबदल होता रहता है। दहेज भारतीय विवाहों का एक विश्वव्यापी सच है जो किसी न किसी रूप में नज़र आता रहता है। जितना अधिक शिक्षित वर उतना ज़्यादा दहेज और उतनी बड़ी मांगें। दहेज में घर के समान से लेकर आधुनिक मोटर-कार, मकान कुछ भी मांगा जा सकता है।

पर कहानी यहीं खत्म नहीं होती। वधू के परिवार से विवाह के उपलक्ष्य में एक भव्य पार्टी की उम्मीद भी की जाती है। पार्टी से पहले कॉकटेल, डिनर, संगीत, मेंहदी आदि के रिवाज निभाए जाते हैं। वधू पक्ष मेंहदी लगाने के लिए बाहरी पार्टियों को बुलाते हैं जिसकी कीमत सौ रुपये प्रति हाथ से लेकर दस हज़ार रुपये तक हो सकती है। वधू को तैयार करने वाले ब्यूटी पार्लर दो हज़ार से बीस हज़ार तक रकम वसूल कर सकते हैं। शादी के एक माह पहले सुन्दर बनाने वाले पैकेज की कीमत पांच से बीस हज़ार रुपयों तक हो सकती है।

वधू का परिवार शादी के पहले व शादी के दौरान सभी रस्मों का खर्च भी उठाता है। इसमें पंडित की दक्षिणा, रस्मों पर नेग, वर पक्ष-रिश्तेदारों के उपहार शामिल हैं। इसके अलावा बारात के रहने-खाने का खर्च तो है ही।

आजकल लड़कियों को शादी के लिए तैयार करने वाले "पॉलिशिंग स्कूल" भी खुल गये हैं। ससुराल में सुघड़ बहू

की भूमिका में सटीक बैठने के लिए ये प्रशिक्षण स्कूल लड़कियों को तैयार करते हैं। मध्यम वर्ग में ये स्कूल काफी प्रचलित हो रहे हैं।

हमारे देश में मीडिया पर भी विवाह की संस्था का प्रभाव है। दिन भर टीवी पर दिखाए जाने नाटकों में अधिकांश सास-बहू के संबंधों पर आधारित हैं। इन सीरियलों में 'नई औरत' की छवि पेश की जाती है। ये औरत स्वतंत्र, होनहार, निर्णय लेने वाली है और साथ ही पारम्परिक रूप से बहू और घर की गृहिणी की भूमिका भी बखूबी निभाती है। नई औरत की यह छवि औरतों को दोहरे शिकंजे में जकड़ रही है। एक औरत को घर के बाहर काम करके पैसा भी कमाना है और साथ-साथ घर के काम भी उत्साह और जोश के साथ करने हैं।

ये दोहरे मापदण्ड शादी के नए नियमों के उभरने के कारण हैं। लड़का एक खूबसूरत, स्मार्ट, होशियार और बाहर आने जाने वाली लड़की पत्नी के रूप में चाहता है जो उसके साथ दफ्तर की पार्टियों में उठ-बैठ सके और साथ ही उसके माता-पिता के लिए आदर्श बहू भी साबित हो।

हालांकि औरतों के साथ-साथ पुरुषों की भूमिका में भी बदलाव आ रहे हैं पर औरतों के लिए इन बदलावों का बोझ बढ़ता जा रहा है। वर-पक्ष गोरी, पतली, कॉनवेंट शिक्षित, व्यवसायी और इज़्ज़तदार परिवार की लड़की तलाशते हैं। उन्हें नौकरीपेशा लड़की भी चाहिए। इसके साथ-साथ लड़की को खाना पकाना व घर चलाना भी आना ज़रूरी है। और इसके साथ-साथ अच्छा खासा दहेज भी आना चाहिए।

यानी कि यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि घरेलू हिंसा में बढ़ोत्तरी का मुख्य कारण है अपर्याप्त संसाधनों के लिए बढ़ती मांगें व उपभोग और आराम की वस्तुओं की बढ़ती ख्वाहिशें। घरेलू हिंसा के कारण औरतों का स्वास्थ्य, आर्थिक व सामाजिक व्यय बढ़ता है जिसका प्रभाव औरतों के ऊपर, परिवारों, सामाजिक और आर्थिक विकास पर पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इस सामाजिक मुद्दे को जड़ से मिटाने का प्रयास किया जाए।

नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार पतियों द्वारा दहेज उत्पीड़न व दहेज हत्या के मामलों में बढ़त हुई है। रिश्तेदारों व परिवार के दूसरे सदस्यों के हाथों हिंसा व उत्पीड़न में भी 1998-2003 के बीच 10 प्रतिशत बढ़त पाई गई है।

भारत में दहेज के आंकड़े

अपराध	1998	1999	2000	2001	2002	2003
दहेज हत्या	6975	6699	6995	6857	6822	6208
उत्पीड़न (पति व रिश्तेदारों द्वारा)	41376	43823	45778	49170	49237	50703
दहेज विरोधी कानून	3578	3064	2876	3222	2816	2684

स्रोतः एनसीआरबी 2003

इसके लिए ज़रूरी है परिवार के सीढ़ीबद्धता आधारित सत्ता संबंधों को चुनौती देना। आर्थिक भेदभाव, लैगिंक भूमिकाओं और समाज में व्यापक पितृसत्ता की जड़ों पर भी चोट की जानी चाहिए।

इसके साथ ही हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि घरेलू हिंसा के मुद्दों को समाज नज़रअंदाज़ क्यों कर देता है? इसका मुख्य कारण है स्त्री व पुरुषों के सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक दर्जों में भेदभाव व ऊंच-नीच जो सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों क्षेत्रों में मौजूद है। यह भेदभाव समाज के पितृसत्तात्मक ढांचे के सूचक है। संविधान में स्त्री-पुरुष को समान दर्जा व अधिकार दिए गये हैं पर हमारा समाज इस संवैधानिक नियमों का पालन नहीं करता।

भौगोलीकरण और बाज़ारवाद के कारण महिलाओं पर बढ़ती घरेलू हिंसा को कम करने के लिए ज़रूरी है कि परिवार और समाज में औरतों को समान हक़ और सत्ता मुहैय्या हो। राज्य को चाहिए कि वह समतापूर्ण कानूनों को सूत्रबद्ध करें जिससे हमारे परिवार में प्रजातंत्र का माहौल बने। इसके साथ-साथ राज्य की नीतियां और कार्यक्रमों में भी जेंडर समानता को लक्ष्य बनाया जाए और इनके कार्यान्वयन पर विशेष ध्यान दिया जाए। ये प्रजातंत्रीय प्रक्रियाएं तभी कारगार साबित होंगी जब हर स्तर पर औरतों की भागीदारी व संसाधनों तक उनकी पहुंच सुनिश्चित की जाएगी और जिसकी अभिव्यक्ति परिवार, समाज व राज्य में निहित प्रजातंत्रीय प्रक्रियाओं में होगी। जितना अधिक प्रजातंत्रीय ढांचा होगा उनकी सत्ता और समानता औरतों को दी जा सकेगी।

घरेलू हिंसा की रोकथाम के लिए तीन मुख्य कदम उठाने होगें— पहला, परिवार के अन्दर प्रजातंत्रीय माहौल बनाना जिससे सभी फैसलों में औरतों की बराबर की भागीदारी हो, दूसरा, समाज से लैंगिक भेदभाव को जड़ से हटाना होगा व तीसरा, राज्य स्तर पर महिलाओं की समान भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

इन तीनों स्थितियों की एक साथ मौजूदगी से ही महिला हिंसा को जड़ से मिटाया जा सकता है। इन तीनों में से किसी भी एक कदम का अभाव हिंसा की रोकथाम के रास्ते में रुकावट पैदा करेगा। जैसे उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र में परिवार में औरतें बराबरी से निर्णय ले पाती हैं, समाज में लैंगिक भेदभाव का अभाव है पर चूंकि संसद व राज्य स्तर पर औरतों का प्रतिनिधित्व नहीं है इसलिए घरेलू हिंसा को जड़ से मिटाया नहीं जा सका है। इसी तरह स्वीडन में औरतों के पास राजनैतिक स्तर पर समानता है पर अन्य दो परिस्थितियों की मौजूदगी न होने के कारण औरतों पर हिंसा बंद नहीं हुई है।

जहां तक भारत का सवाल है परिवारों के अंदर प्रजातंत्रीय माहौल की कमी है, केन्द्र व राज्य स्तर पर महिलाओं की भागीदारी बिल्कुल न के बराबर है व समाज में लैगिंक भेदभाव व्याप्त है। पर भौगोलीकरण के चलते जहां नई चुनौतियां सामने आ रही हैं वहीं परिवार के ढांचों में भी बदलाव आ रहे हैं, जिन्हें हमें औरतों के हित में मोड़ना होगा जिससे औरतें आगे बढ़कर राजनैतिक प्रक्रियाओं में हिस्सा लें और समाज उनके योगदान को सम्मान दे सके।

भौगोलीकरण की प्रक्रिया कोई नई नहीं है, हर युग में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक ढांचों का भौगोलीकरण होता आया है। पहले इसकी रफ़्तार धीमी थी, अब यह तेज़ी से फैल रहा है और इसलिए हम इस पर ध्यान दे रहे हैं। तकनीकी जानकारी, नए संचार माध्यमों की मौजूदगी ने भौगोलीकरण के प्रभाव कई गुना बढ़ाकर इन्हें हमारे जीवन में समाहित कर दिया है। दुनिया अब एक बड़ा बाज़ार बन गई है। घरेलू हिंसा, परिवार का बिखराव, विवाह में सामाजिक सहयोगी ढांचों का अभाव और औरतों पर कमर-तोड़ बोझ इसके दुष्परिणाम हैं। यह देखा गया है कि जब समाज हिंसा करने वालों पर अंकुश लगाता है तब औरतें सशक्तता का एहसास करके अपने अधिकार इस्तेमाल करती हैं। एक प्रजातंत्रीय परिवार व समाज ही औरतों को मज़बूत और सशक्त बनाता है। इस समय राज्य का यह कर्तव्य बनता है कि वह इस प्रक्रिया को मज़बूती प्रदान करके इसे और सक्षम बनाए। सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों में महिला सशक्तीकरण का लक्ष्य तथा संसाधनों पर उनका नियंत्रण ही हिंसा को जड़ से मिटाने का उद्देश्य पूरा कर सकता है।

समाप्त होती तितलियां

सविता सिंह

किस ओर से आने लगी हैं
इतनी सारी सुंदर रंग-बिरंगी
ढेर सारी तितलियां
झाड़ती पराग पंखों से
भरती वातावरण को ईश्वर के अपने रंग से
लहराती हल्की हवाओं संग
फुर्ती से दिशा बदलती
किस ओर चली जा रही हैं
इतनी सारी तितलियां

बाहर की टह टह धूप का रंग बदलती
उतारती जेठ की गर्मी को दोपहर के कलेजे में
किस मोहजाल की तरफ बढ़ती जा रही हैं
किस आकाश के नीलेपन में होने शामिल
खोने समय की किस खाई में
पराग बरसाने वाली
प्रफुल्ल नाचती इतनी सारी तितलियां
इतनी खुशी से कैसे उड़ती जा रही हैं समाप्त होने

लेख

धार्मिक मान्यताएं और दहेज

जया श्रीवास्तव

दहेज यानी विवाह के समय बेटी को दिए जाने वाले उपहारों पर क़ायदे से बेटी का ही हक़ होना चाहिए। बेटी अपनी नई गृहस्थी जमा सके, इसमें ये उपहार मदद कर सकें, ये विधि कई अन्य समाजों में भी मौजूद है। पर हिन्दू समाज की कई अन्य परम्पराओं की तरह दहेज का स्वरूप भी अत्यन्त भयावह और वीभत्स हो चुका है। विवाह के समय दिए गए उपहार/नगदी, बेटी के न रह कर उसकी ससुराल वालों के हो जाते हैं, उसी तरह जैसे बहू बनने पर बेटी पर ससुराल वालों का हक़ हो जाता है। और मुंहमांगा दहेज न मिलने पर उसे दबाब और यन्त्रणा का शिकार बनना पड़ता है। मां-बाप भी उसे सहने-झेलने की ही सलाह देते हैं क्योंकि जब बेटी दे दी तब वह दूसरों की हो गई। हम अक्सर इसे सामाजिक कुरीतियों के डिब्बे में डालकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। बहुत हुआ तो इस कुप्रथा में सुधार लाने या इसे ख़त्म करने की बात करते हैं और उस दिशा में कदम भी उठाते हैं। ये भी कहा जाता है - जो सच भी है - कि आज के उपभोक्तावादी युग में जब आराम और छिछले मनोरंजन की वस्तुओं को इकट्ठा करने का लालच बढ़ता गया है, दहेज इसकी पूर्त्ति का एक आसान तरीका या माध्यम बन गया है। दहेज में मांगी जाने वाली चीज़ों की फ़ेहरिस्त लम्बी होती गई है। कार, टी.वी., फ़्रिज, फ़र्नीचर और मोबाइल जैसी चीज़ों के अलावा, मंहगे लेन-देन, नकद की बढ़ती रक़म और शादी के ठाठ-बाट और दिखावे पर अधिक से अधिक खर्च इस दुष्प्रथा के कुछ बढ़ते आयाम हैं जो आज के बाज़ारीकरण व खर्चीली व्यवस्था के साथ जुड़ते हैं।

इस पूरे प्रकरण में अक्सर ये ध्यान नहीं दिया जाता कि आख़िर यह दुष्प्रथा, शिक्षा, जागरुकता, कानून आदि चीज़ों के बावजूद कमज़ोर क्यों नहीं पड़ी है? उसका रूप भले ही बदला है। आज की जगमगाहट भरी दुनिया में उस पर नई कलई ज़रूर चढ़ गई है, शब्दावली और तरीके बदल गए हैं, परन्तु औरत के दोयम दर्ज़े को पुख्ता करती हुई, उसकी धड़कनें अभी भी कायम हैं। आखिर इसकी जड़ कहां है? किस विचारधारा, किस मानसिकता के नागपाश में बंधी है यह कुप्रथा? इक्कसवीं सदी में लम्बी डगें भरने का दंभ करने वाला ये देश कैसे और क्यों आए दिन दहेज की खातिर प्रताड़ित या मार दी गईं औरतों के चीत्कार नहीं सुन पाता या देख-सुनकर भी चुप्पी साध लेता है?

पितृसत्ता का दर्शन ऐसे हमारी धमनियों में खून बनकर बह रहा है कि उसके इस नृशंस प्रभाव को हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। इसकी तहों को खोलने-समझने के लिए हमें अपनी मान्यताओं, ख़ास कर उन मान्यताओं को, जिन्हें हमने धर्म से जोड़ रखा है, खोदने-परखने की ज़रूरत है। पितृसत्ता के भवन के खम्भों में से धर्म एक मुख्य खम्भा है। धर्म के विभिन्न आयामों- दर्शन, शास्त्र, रीतियां, नियम, पूजा-पाठ, क़ायदे-कानून आदि में से सिवा दर्शन के, जो धर्म की अन्तरात्मा है- और सभी में ग़ैरबराबरी कहीं न कहीं पैठी हुई है। धर्म के नाम पर किसी रीति या क़ायदे पर इज़्ज़त व विश्वास की मुहर लग जाती है और उसके बहाने दबाव और शोषण को मान्यता मिल जाती है। हज़ारों वर्षों से धर्म के झूठे रूप के ज़रिए औरत को पुरुष के आधीन बनाया गया है, पितृसत्ता की धाराएं हिन्दू मानस को जकड़े हुए हैं। दहेज उसकी एक बदबूदार नाली है।

अपने देश के धर्म के इतिहास पर नज़र डालें तो देख सकते हैं कि उपनिशद काल के बाद से महाभारत, फिर रामायण काल

तक आते-आते सनातन धर्म पर पितृसत्ता का रंग और गाढ़ा होता चला गया।

आदि-मानव और वैदिक काल, आदिवासी और मोहनजोदड़ो की संस्कृतियों में स्त्री की स्थिति इतनी नगण्य नहीं थी। यहां तक कि महाभारत काल में भी स्त्री को अपनी इच्छा जताने का कुछ तो हक़ था, हालांकि पाबन्दियां शुरू हो गईं थीं। गंगा, सत्यवती और कुन्ती जैसी स्त्रियां भी थीं, जिन्होंने कुछ हद तक अपने मन की बात सुनी। परन्तु रामायण काल और मनुस्मृति के समय तक स्त्री की पराधीनता सुनिश्चित की जा चुकी थी। शास्त्र और कथा तय कर चुके थे कि स्त्री बचपन में पिता, जवानी में पति और बुढ़ावे में पुत्र के आधीन रहेगी। लक्ष्मण-रेखा लांघने की सज़ा मिलनी थी, सीता को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी और प्रेम-प्रस्ताव की जुर्रत करने वाली शूर्पणखा के नाक-कान कटने थे। ये भी प्रकरण आदर्श और निकृष्ट दोनों तरह की हिन्दू नारी के चित्र पेश करते हैं, जो आने वाली सभी औरतों के लिए धर्म की आड़ में बनाए गए नियमों की प्रतिस्थाति करते हैं। सीता की मां ने उनसे कहा था- *पराधीन सपनेहुं सुख नांही।*

औरत को पराधीन ही रहना है, पग-पग पर अपनी पवित्रता प्रमाणित करनी है और उसे सुख पाने का अधिकार नहीं है। इन शास्त्र सम्मत नियमों के आधार पर ही खड़ी हैं अनेक लोकोक्तियां:

- *लड़की तो पराया धन है।*
- *बेटी का क्या, दूसरे के आंगन की पौध है।*
- *जहां उसकी डोली गई वहां से अर्थी ही निकलेगी।*
- *कन्या-दान करने से स्वर्ग के द्वार खुलते हैं।*
- *बेटी हुई और लाख की चपत लगी।*

इस तरह की कहावतें कोरे शब्द नहीं हैं। ये एक पूरी गढ़ी-गढ़ाई व गहरे बैठी सोच को उजागर करते हैं, और ये सभी तथाकथित धार्मिक विश्वास और परम्परा से जुड़े रहते हैं। 'कन्या एक वस्तु है' जिसका दान करके हम बहुत बड़े पुण्य के भागीदार बनते हैं। इस 'वस्तु' का इतना अवमूल्यन हो चुका है कि साथ में अन्य वस्तुओं का भेंट अनिवार्य हो जाता है। लड़की अगर काली है, बदसूरत है या ज़्यादा उम्र की है तो दहेज ज़्यादा देना पड़ता है। कम उम्र और खूबसूरत लड़की के साथ कम दहेज भी चलता है। यही एक मुख्य कारण है बाल-विवाह का। बचपन में शादी का अर्थ है कम से कम दहेज। बहरहाल, सामान्यतः कन्या के साथ द्रव्य/नगद तथा अन्य वस्तुओं का 'दान' इस व्यवस्था का अविभाज्य अंग बन गया है। बेटी के प्रति दया-मोह का भाव भी होता है क्योंकि उसे पराए घर भेजना ही भेजना है और उसे खाली हाथ तो भेजना नहीं है। कन्यादान जैसे धार्मिक अनुष्ठान में रीति-परम्परा के साथ-साथ 'द्रव्य' और वस्तुओं को देना शास्त्र सम्मत बन जाता है।

इस तथ्य पर भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि चूंकि कन्या पराया धन है उसका पैतृक सम्पत्ति पर कोई हक़ नहीं बनता। नए कानूनों के बावजूद अगर बेटी बाप की सम्पत्ति में अपना हक़ मांगे तो उसे शास्त्र विरोधी माना जाता है। आज ये भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें बेटी को लगता है कि अगर पैतृक-सम्पत्ति नहीं मिलती है तो कम से कम दहेज तो मिल जाए। मूल बात को भुला दिया जाता है। पिता की सम्पत्ति में अगर बेटी को बराबर का हक़ मिलने लगे तो दहेज की बात कहां से आएगी? जब तक बेटी-बेटे को समुदाय में समानता-यानी अवसर और व्यवहार के क्षेत्रों में बराबरी का दर्जा नहीं मिलता व जब तक ये सोच हमारे ज़ेहन में नहीं उतरती, तब तक दहेज को जड़ से उखाड़ना मुश्किल है। इज़्ज़त और बराबरी के बिना बेटी वस्तु ही बनी रहेगी और उसके भार को उतारने के लिए लड़की के मां-बाप दहेज देते रहेंगे। नहीं तो शास्त्र विरुद्ध बातों से पाप लगेगा।

दहेज देकर और लेकर हम बेटी को बेटे से नीचा दिखाते ही रहेंगे और उसे बार-बार दोयम दर्जे का एहसास कराते रहेंगे। कानूनन बेटी को पैतृक सम्पत्ति में बराबर का हक़ देना अनिवार्य हो जाना चाहिए। धर्मशास्त्रों की महिमा और आधुनिक बाज़ारीकरण की चकाचौंध, दोनों के खोखलेपन को समझकर त्यागना ज़रूरी है। धर्म का दर्शन मानवीय मूल्यों का स्रोत है, जिसमें मान-मर्यादा, प्रेम और करुणा जैसे गुणों को वरीयता दी जाती है और जो सभी प्राणियों के प्रति सम्भाव को सींचते हैं। यदि हम धर्म के असली रूप में विश्वास करते हैं और उसी से जुड़ी पितृसत्तात्मक रूढ़ियों को खारिज करने के लिए तैयार हैं तो स्त्री-पुरुष की गैर बराबरी का सवाल ही खत्म हो जाएगा, और उसी के साथ बेटी के निकृष्ट दर्जे और दहेज का।

कविता

स्त्री-सुबोधिनी

पवन करण

हमें अपने इकलौते लड़के के लिए एक बहू चाहिए
जो दुनिया की सबसे अच्छी बहू हो और उसे ये बात
कि वह दुनिया की सबसे अच्छी बहू है पता न हो

जिसे बोलना भले ही आता हो मगर हो वह गूंगी
'न' इस शब्द को वह पहचानती ही न हो
और 'हां उसकी ज़ुबान पर दरवाज़े के बाहर
हाथ बांधे खड़े नौकर की तरह रहता हो खड़ा

जिसके दोनों पैर तो साबुत हों मगर हो वह लंगड़ी
न वह चलना जानती हो न दौड़ना
नाचना तो उसे बिलकुल न आता हो
और गुस्से में पैर पटकते तो उसने किसी को
देखा ही न हो

जिसके कान भले ही हों मगर उसे सिर्फ़ सुने
हमारे घर के लोगों की आवाज़
बाहर की कोई आवाज़ सुनाई न दे
आंखें होने पर उनसे दूर तक देखने लायक
होने के बाद भी
उसकी घर से बाहर देखने की इच्छा ही न हो

जिसके पास डिग्रियां तो खूब हों
लेकिन वह पढ़ी-लिखी न हो ज़रा भी
दस्तखत करने के नाम पर वह आगे कर देती हो
अपने हाथ का स्याही लगा अंगूठा
और अपनी डिग्रियों को महज़ कागज़ के टुकड़े मानकर
छोड़ आए पिता के घर अपने

ऐसी कि सब उसे देखते रह जाएं और हमसे बार-बार कहें
अपने लड़के के लिए क्या बहू ढूंढ़कर लाए हैं आप
लेकिन वह न तो अपनी खूबसूरती बार-बार
आईने में देखती हो और न ही खुद को हमारे घर की
साधारण से चेहरे वाली लड़कियों से अधिक सुन्दर मानकर चले

जिसके पिता के घर के लोग
हमारे घर को समय से बढ़कर
और सच से अधिक मानकर चलें
और यह बात बार-बार कहते रहें
आपके घर में अपनी लड़की देकर धन्य हो गए हम
हम तो इस लायक थे भी नहीं

जिसे रोना बिलकुल न आता हो
चीखना तो वह जानती ही न हो
और उसकी पीठ ऐसी हो कि उस पर उभरते ही
न हो नीले निशान
उसके गालों पर छपती ही न हों उंगलियां
और वह पिटते समय बिलखती नहीं, हंसती हो

चेहरे से जिसके पीड़ा झलके नहीं
दुख दिखाई न दे जिसकी आंखों में
बातों में जिसकी कष्ट बजें नहीं

जिसे हमें ढूंढ़ने कहीं जाना न पड़े उसका पिता
नाक रगड़ता निहोरे करता हमारे घर आए
और हम उस पर करते हुए एहसान
बहू के रूप में उसकी बेटी को अपने बेटे के लिए रख लें

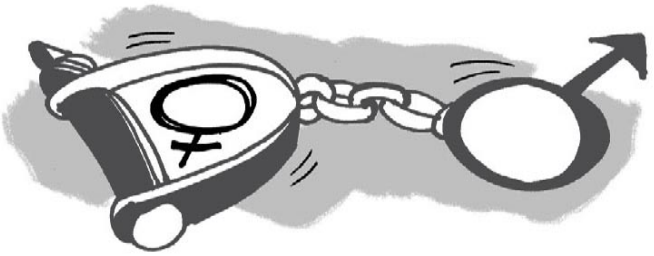

आखिर दहेज विरोधी आंदोलन असफल क्यों रहा?

फ्लेविया ऐगनिस

महिला हिंसा से जुड़े मुद्दे खासकर दहेज और बलात्कार पिछले तीन दशकों से भारतीय महिला आंदोलन का सरोकार रहे हैं। इसके ख़िलाफ़ कठोर से कठोर कानून सूत्रबद्ध करने के तमाम प्रयास निष्फल रहे हैं। आंकड़े स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि दहेज हत्या व बलात्कार के मामलों में साल-दर-साल बढ़ोत्तरी हो रही है। तो आखिर हमारे अभियानों में क्या गलत हुआ कि ये असफल रहे? अपने इस लेख में मैं यह समझने की कोशिश कर रही हूं कि दहेज विरोधी अभियान, घरेलू हिंसा और ससुराल में युवा वधुओं की मृत्यु को रोकने में निष्फल क्यों रहा?

अस्सी के दशक में भारत के अधिकांश शहरों में दहेज हत्या के ख़िलाफ़ सार्वजनिक प्रतिवाद उठा जिसे मीडिया ने भी पूरी तरह उभारने में मदद की। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि कोई महामारी सी शहरों में फैल रही थी और बड़ी संख्या में शहरी, शिक्षित, मध्यमवर्गीय लड़कियां इसका शिकार हो रही थीं। इस बीमारी का अन्त युवा वधू की जली हुई देह के रूप में हमारे सामने आ रही थी। इस मौत का कारण था-दहेज।

कुछ समाजशास्त्रियों और महिला अधिकार कार्यकत्ताओं ने इस चलन के लिए पति व ससुराल वालों का बढ़ता हुआ भौतिक लालच और उपभोक्तावाद को दोषी ठहराया। कुछ ने और आगे जाते हुए कहा कि यह पतियों के लिए एक पत्नी से छुटकारा पाकर, दूसरी शादी करके अधिक से अधिक दहेज अर्जित करने का बढ़िया रास्ता था।

पर यह हमारी खुशनसीबी है कि समाज में हम माता-पिता को दो अलग-अलग स्पष्ट श्रेणियों में बांट नहीं सकते — दहेज लेने वाले लड़के के मां-बाप और दहेज देने वाले, लड़की के माता-पिता। बल्कि विडम्बना तो यह है कि लड़के के माता-पिता, जो दहेज लेते हैं, अपनी बेटियों की शादी में दहेज देते भी हैं। इसलिए उपभोक्तावाद और लालच को दहेज व दहेज हत्या के लिए पूर्णतः ज़िम्मेदार ठहराना शायद उचित नहीं होगा।

चूंकि घरेलू हिंसा के लिए दहेज को ज़िम्मेदार ठहराया जाता रहा है, जबकि घरेलू हिंसा औरतों के कमतर दर्जे और उनकी सत्ताहीनता की सूचक है, इसलिए यह अनुमान लगाया गया कि अगर दहेज के विरोध में एक कड़ा कानून सूत्रबद्ध किया जाए तो वैवाहिक हत्याओं की रोकथाम की जा सकेगी। फलस्वरूप *दहेज विरोधी कानून 1961* जिसके अनुसार 'दहेज देना व दहेज लेना क़ानूनी जुर्म' ठहराया गया था, में अभियान के शुरूआती दौर में दो बार संशोधन (1984 व 1986 में) किए गये और उसे और पुख्ता बनाने का प्रयास किया गया।

1961 कानून में दहेज की परिभाषा थी- *विवाह के उपलक्ष्य में दी गई सम्पत्ति।* इसमें शादी के बाद लड़की को दिये गये किसी भी सामान को शामिल नहीं किया जाता था क्योंकि उसे *विवाह के उपलक्ष्य में* नहीं दिया गया था। यह परिभाषा बहुत ही संकुचित थी और इसमें दहेज मांगने के अपराध की सज़ा बहुत ही मामूली थी। यह जुर्म ज़मानती था जिसकी सज़ा की अवधि थी, मात्र छः महीने। दहेज मांगने के अपराध की शिकायत विवाह के एक वर्ष के भीतर दर्ज की जानी ज़रूरी थी।

पर 1984/1986 के संशोधन के बाद 'दहेज' की परिभाषा को व्यापक बनाकर इसके दायरे में शादी से जुड़ी सभी चीज़ें व जायदाद, (शादी के पहले/शादी के समय या फिर बाद में मिली) को शामिल कर दिया गया। इस अपराध को गैर-ज़मानती निर्धारित किया गया व इसके लिए पांच

वर्ष कारावास और कम से कम पंद्रह हज़ार या दहेज के मूल्य बराबर का जुर्माना लागू किया गया।

इसके साथ ही भारतीय दण्ड संहिता, जिसमें दहेज संबंधी अपराधों का विस्तृत उल्लेख है— *दहेज हत्या* (खण्ड 304 बी) *पत्नी के साथ क्रूरता व दहेज उत्पीड़न* (खण्ड 498 ए) जोड़े गये। साथ ही सबूतों से जुड़े नियमों को संशोधित करके, विवाहित महिलाओं की मृत्यु के मामले में (खण्ड 306-आत्महत्या के लिए उकसाना) सबूत जुटाने का ज़िम्मा पति व उसके परिवारवालों पर डाल दिया गया। पर इन सभी कानूनी सुधारों के बावजूद समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही।

अस्सी के दशक के अंत और नब्बे की शुरूआत तक कानूनी दस्तावेज़ों में काफी मामले मौजूद थे जिनके विश्लेषण से हमें इन कानूनी प्रावधानों का महिलाओं के जीवन पर प्रभाव जानने में सहायता मिली। दुख की बात तो यह है कि हमने पाया कि तमाम कानून और प्रावधान महज़ नाम के लिए थे और हमारे आंदोलन को अपनी सफलता का झूठा दिलासा दे रहे थे। इसके बाद ही हमने अपने अभियान की खामियों पर तथा सूत्रबद्ध कानूनों में त्रुटियां तलाशना शुरू किया।

दहेज व दहेज हत्या के अभियान ने दहेज, जो कि एक जायदाद संबंधी मुद्दा है, को 'मौत', जो एक हिंसात्मक अपराध है से जोड़ दिया था। इन दोनों मुद्दों में- घरेलू हिंसा और महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों की जटिलताओं पर कोई तवज्जो नहीं दी गई थी। दहेज विरोधी कानून ने एक लड़की की अपने मायके व ससुराल दोनों घरों में कमज़ोर और दोयम स्थिति को पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया था। इस सच्चाई को बिल्कुल सम्बोधित नहीं किया गया था कि माता-पिता अपनी बेटी के विवाह और उसे ससुराल में रखने के लिए किसी भी हद तक समझौते कर सकते हैं। वे किसी भी कीमत पर कुंवारी या फिर तलाकशुदा बेटी को अपने घर रखने के सामाजिक बोझ को ढोना नहीं चाहते।

'दहेज की मांग' व 'दहेज उत्पीड़न' के ख़िलाफ़ आवाज़ें अक्सर शादी के समय नहीं बल्कि लड़की की मौत के बाद सुनाई देती थीं। वही माता-पिता जिन्होंने अपनी बेटी को ससुराल में हिंसा व मौत के खतरे के साए में रहने के लिए बार-बार मजबूर किया था; जिन्होंने उसके जीते जी ससुराल पक्ष की सभी मांगे भी पूरी की थीं, अब सार्वजनिक प्रतिवाद के लिए तैयार हो रहे थे। वे चाहते थे कि कम से कम अपना दहेज में दिया सामान वापिस ले सकें और साथ ही वर-पक्ष की समाज में बेइज़्ज़ती करके अपने दिल को सुकून पहुंचाएं।

ये तमाम संघर्ष महिला संगठनों की मदद से आयोजित किए जा रहे थे। पर महिला समूहों के पास आने वाले माता-पिता के मन में इन कार्यकत्ताओं के मूल्यों और चिंताओं की कोई विशेष अहमियत नहीं थी। दहेज के ख़िलाफ़ संघर्ष-धरना करने के बाद भी उनके रवैये में बदलाव नहीं आता था और साल दो साल बाद वे अपनी दूसरी बेटी की शादी यथासंभव दहेज देकर निपटा देते थे।

कहने का अर्थ यह है कि महिला अधिकारों की सुरक्षा के लिए चलाये किसी भी आंदोलन का उन माता-पिता के साथ तालमेल नहीं बैठ सकता, जो अपनी बेटियों को शिक्षा व समान अवसरों से वंचित रख, घर की चारदीवारी में कैद करके, छोटी उम्र में उनकी शादी कर देते हैं और फिर परिवार की आबरू को बरकरार रखने के लिए उस पर दबाव बनाए रखते हैं। और तो और उसे सम्पत्ति से वंचित रखने के लिए कोई भी सीमा पार करने में हिचकिचाते नहीं हैं।

चूंकि दहेज लेन-देन के विरुद्ध कानून की नींव इस मान्यता पर रखी गई थी कि दहेज के ख़िलाफ़ सख्त कानून से घरेलू हिंसा पर नियंत्रण पाया जा सकेगा, इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस कानून का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा। और तो और, भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत घरेलू हिंसा पर रोक लगाने के लिए पारित नए कानूनों को भी दहेज के साथ जोड़ दिया था, इसलिए इनसे भी घरेलू हिंसा रोकने में मदद नहीं मिली। सिर्फ़ दहेज से जुड़ी हिंसा को रोकने की मांग संकुचित, तथा त्रुटिपूर्ण रणनीतियों पर आधारित थी। दहेज हिंसा को एक ऊंचे पायदान पर रखने से हर वर्ग की औरत द्वारा (समुदाय, शहरी-ग्रामीण) रोज़मर्रा झेली जाने वाली हिंसा के सीधे-साधे मामलों को, पुलिस ने दायर करने से इंकार कर दिया क्योंकि ये धारा 498 ए के तहत क्रूरता में नहीं आते थे। इन अपराधों के

मामलों में न्याय पाने के लिए औरतों को दहेज के झूठे केस बनाने पड़ रहे थे। इसके नतीजन पुलिस रिकार्डों में हिंसा व दहेज संबंधी आंकड़ें त्रुटिपूर्ण थे।

दहेज की मांगों के झूठे इल्ज़ाम, शारीरिक हिंसा, मानसिक यातना, यौन उत्पीड़न और आर्थिक भेदभाव के सच्चे मामलों में जुड़ने लगे। फलस्वरूप पूरी शिकायत की सच्चाई पर शुबहा किया जाने लगा क्योंकि अदालत में जिरह के दौरान ये दहेज मांग के बेबुनियाद मामले मुंह के बल गिरने लगे। अदालत में शिकायतें या तो शुरूआत में ही खारिज़ होने लगीं या फिर घरेलू हिंसा के सच्चे केसों में भी अपराधी, शक़ की गुजांइश के चलते, आज़ाद घूमते रहे। इस पूरी प्रक्रिया ने इस सोच को बढ़ावा दिया कि औरतें कानून का दुरूपयोग करके बेगुनाह पतियों को प्रताड़ित कर रही हैं। कुछ बड़े शहरों में तो पतियों ने पत्नी अत्याचार मंच भी शुरू कर डाले। दहेज व घरेलू हिंसा की वास्तविक समस्या को झूठ करार दे दिया गया।

तो एक ओर 'उत्पीड़ित' पतियों की हौसला अफज़ाई होती रही, वहीं दूसरी ओर बड़ी संख्या में औरतें घरों के अंदर मरती रहीं व अभियुक्त खुलेआम घूमते रहे। पुलिस की बेरूखी व भ्रष्टाचार, जांच-पड़ताल में देर व असमानताएं, जाली चिकित्सीय और न्यायिक रिपोर्ट बनाने वाले अनैतिक व्यवसायिक डाक्टर, अक्षम और निष्क्रिय सरकारी वकील और लैंगिक पूर्वग्रहों से ग्रस्त न्यायपालिका के चलते सज़ा पाने वाले मुजरिमों की संख्या बेहद अफसोसजनक रही। पत्नियों के कत्ल के अधिकांश मामलों में अपराध साबित करने में सरकारी वकील नाकामयाब रहे। जिन पतियों व रिश्तेदारों पर इल्ज़ाम लगाया गया था वह 'शक की बिनाह पर' या 'अपराध के पूरी तरह न साबित होने पर' बरी हो गये। इतने कम दोषसिद्धि आंकड़े होने के कारण कानून की भय-निवारक क्षमता बेबुनियाद साबित हुई।

अब तक घरेलू हिंसा के दर्ज केस और पत्नी-हत्या के मामले केवल शहरों तक सीमित नहीं थे। एक महिला की हत्या की खबर अब कोई सनसनी पैदा नहीं करती थी। अब इन घटनाओं को अखबार में कोई छुट-पुट स्थान मिल जाता था। दहेज हत्या के अपराध को साबित करना नामुमकिन हो गया था। पहले पत्नी-हत्या का मामला सीधे-सीधे धारा 302 हत्या के तहत दर्ज कराया जा सकता था। वकील

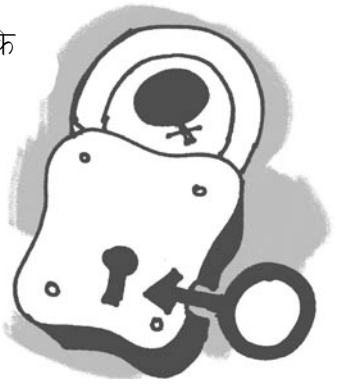

का काम था साबित करना कि यह घटना 'मानवघाती' थी। मौका-ए-वारदात पर अभियुक्त की मौजूदगी और मकसद साबित होने पर सज़ा होना तय था। पर कानूनी संशोधन के पश्चात पत्नी-हत्या केवल 'हत्या' न रहकर 'दहेज हत्या' बन गई। अब ज़रूरी था कि विवाह के सात वर्षों के भीतर औरत की मृत्यु हुई हो और मृत्यु से पहले उसे दहेज के लिये पति व रिश्तेदारों द्वारा प्रताड़ित किया गया हो। एक दफ़ा ये सब बातें स्पष्ट हो जाएं तब पति को साबित करना होता था कि अपराध उसने नहीं किया है। पर अधिकांश मामले इस स्तर तक पहुंचते ही नहीं थे। तो हालांकि कागज़ी स्तर पर यह कानून प्रगतिशील प्रतीत होता था चूंकि दहेज की मांगों की शिकायत कभी दर्ज नहीं की जाती, इस कानून का वास्तविक प्रभाव न के बराबर रहा। ठीक इसी तरह 'आत्महत्या के लिए उकसाना' कानून की तमाम धाराओं की भी अदालत द्वारा कुछ इस प्रकार व्याख्या की गई कि अंजाम तक कुछ ही मामले पहुंच पाए।

बहरहाल, हालात बड़े ही मायूसी वाले प्रतीत हो रहे हैं। पर जब तक हम आर्थिक अधिकारों को महफूज़ रखने के लिए एक अभियान नहीं चलाएंगे तब तक दहेज हिंसा औरत को न तो सशक्त बनाएगी न ही घरेलू हिंसा पर अंकुश लगेगा। मैं इस बात पर अडिग हूं कि अधिकांश औरतें इसलिए मरती हैं क्योंकि उनके पास जाने की कोई जगह नहीं होती। पति का घर पति का होता है और पिता का घर, पिता व भाई का। सामाजिक और कानूनी रूप से आवास के इस मूल अधिकार का अभाव औरतों को खतरनाक विवाह संबंधों या फिर खुद को मिट्टी का तेल डालकर जला लेने जैसी तकलीफदेह और यातनापूर्ण मृत्यु के लिए मजबूर करती है। इस समस्या से जूझने के किसी भी प्रयास को सबसे पहले मायके व ससुराल में मौजूद पितृसत्तात्मक पूर्वग्रहों को सम्बोधित करना होगा। औरतों को मूल आर्थिक अधिकार, आवास और सम्पत्ति का हक़ मुहैय्या कराने से ही यह मुहिम सशक्त हो सकती है।

संवाद

दहेज बहिष्कार पर पुनर्विचार

मधु पूर्णिमा किश्वर

दहेज एक सामाजिक अभिशाप है, दोहराते हुए हमें सालों बीत गये। हमने दहेज के विरोध में नारे लगाए हैं, नेताओं ने सार्वजनिक मंचों से इसका खंडन किया है, संसद ने दहेज विरोधी कानून पारित किए हैं। और हम कार्यकत्ताओं ने सन् 1980 से दहेज देने-लेने वाले विवाहों में शामिल न होने की शपथ उठा रखी है।

इस शपथ के पीछे मुख्य सच यह था कि तमाम लोग जिनमें दहेज विरोधी अभियानों की अगुवाई करने वाले भी शामिल हैं दहेज लेन-देन की परम्परा को निभाते चले आ रहे थे। हमने सोचा था कि अगर हम दहेज वाले विवाहों में न जाने की सौगन्ध उठाएंगे तो परिवारों व समुदाय पर कुछ दबाव पड़ेगा और धीरे-धीरे यह बहिष्कार चारों ओर फैल जाएगा।

बहरहाल, इस शपथ का कोई खास प्रभाव नहीं रहा। हालांकि कई संगठनों ने इसे अपने अभियानों का अहम मुद्दा बनाया पर कुछ मुट्ठी भर लोगों ने ही इस शपथ की गुहार पर अपनी एकजुटता दिखाई। मेरे परिवार, दोस्तों व पड़ोसियों के बीच मेरी इस लड़ाई को एक सम्मान और तारीफ़ के नज़रिए से आंका गया पर इसके प्रभाव से मेरे दो छोटे भाइयों को छोड़कर किसी ने भी दहेज लेन-देन बंद नहीं किया। हां, दहेज लेन-देन करने वाले अपनी मजबूरियों का बखान मेरे सामने ज़रूर करते रहे।

हालांकि इतने सालों से मैंने इस शपथ का पालन करते हुए अपने काफ़ी रिश्तेदारों व दोस्तों का दिल दुखाया है। पर साथ-साथ मैंने इस सवाल का पुनर्निरीक्षण भी किया है क्योंकि काफी युवा लड़कियां जिनके फायदे के लिए हम सब दहेज प्रथा को खत्म करना चाहते हैं दरअसल दहेज छोड़ने के लिए उत्सुक नहीं है। यह विडम्बना एक राजनैतिक व नैतिक सवाल उठाती है- *क्या हम स्व-नियुक्त सामाजिक सुधारकों को कोई ऐसे ठोस कदम उठाने का अधिकार है जो हमारी नज़र में किसी समूह के लिए कल्याणकारी हो जबकि वह समूह उस पहल को स्व-हित में नहीं मानता?*

युवतियों के दहेज को 'न' कहने के निर्णय को उनमें जागरूकता व चेतना की कमी मानकर नज़रअंदाज़ करने की जगह अच्छा रहेगा कि हम यह पुनर्निरीक्षण करें कि वे वास्तव में दहेज से इंकार क्यों नहीं करतीं? जवाब सीधा है— मौजूदा पारिवारिक ढांचे में दहेज के लिए मना करना औरत के लिए फायदेमंद नहीं है। वह उस थोड़े को पाने का भी मौका गवां देती है जो उसे दहेज के रूप में मिलता है। पर हम समाज सुधारक इस सीधी सी बात को मानने से हिचकिचाते हैं और यह मांग करते रहे हैं कि औरतें दहेज लेने से इंकार करके अपनी प्रगतिशील सोच का सबूत पेश करती रहें।

काफ़ी औरतों के लिए दहेज के मायने है माता-पिता की सम्पत्ति में उनका हिस्सा। उत्तराधिकार अधिकार के अभाव में सिर्फ़ दहेज पर वह अपना हक़ जता सकती हैं। ऐसी स्थिति में दहेज न लेने के सुझाव का मतलब होगा कि वे अपनी ससुराल खाली हाथ जाएं और अपनी शहादत का एक और नमूना दें। जब तक हम बेटियों को उत्तराधिकार अधिकार नहीं देते तब तक हमें उन्हें दहेज के रूप में मिलने वाले थोड़े से मुआवज़े को त्यागने के लिए कहने का कोई हक़ नहीं बनता।

कुछ महिलाएं जो समाज द्वारा वैध करार दिए दहेज को लेने से इंकार कर देती हैं, वे उत्तराधिकार अधिकार जताने में शायद ही कभी कामयाब होती हों, क्योंकि कानूनी प्रावधान के बावजूद समाज उनके इस हक़ को नहीं मानता। उदाहरण के लिए मेरी एक साथी है जो अविवाहित है और जिसने अपनी मां से कोई गहने भी नहीं लिए क्योंकि वह गहने पहनना पसंद नहीं करती थी। विरासत में उसके भाई को पिता का मकान व कारोबार मिला जबकि उसे कुछ भी नहीं दिया गया। अगर वह पिता की जायदाद में हिस्से की मांग करती है तो मधुर पारिवारिक संबंधों में दरार पड़ जाएगी। आज वह अपने भाई-भतीजों के साथ पिता के घर में रहती है पर समाज उसे अपने भाई पर आश्रित के रूप में ही देखता है।

कुछ मामलों में औरत को अपने दहेज का इस्तेमाल नहीं करने दिया जाता, पर काफी बार वह दहेज पर अपना नियंत्रण चाहे आधा या पूरा स्थापित कर पाती है। दहेज न लेने की सूरत में यह मौका भी हाथ से चूक जाएगा। लिहाज़ा औरतें दहेज लेने की ख्वाहिश नहीं छोड़तीं।

विवाह एक ऐसा मौका है जब लड़कियों को एक विशेष दर्जा मिलता है। वह अपनी पसंद से कपड़े-गहने चुनने की मांग कर सकती हैं। यह उसके लिए अनमोल मौका होता है क्योंकि अक्सर लड़कियों की ख्वाहिशों को परिवार में अहमियत नहीं दी जाती। लड़कियों को यह भी नहीं पता होता कि विवाह के बाद उन्हें अपनी पसंद और ज़रूरतों के सामान के लिए पैसे मिलेंगे या नहीं। हमने अक्सर सुना है कि शादीशुदा लड़कियां शिकायत करती हैं कि ससुराल वाले उन्हें खर्चे के लिए पैसे नहीं देते। वे अपने दहेज में मिली चीज़ों से ही गुज़ारा करती हैं या फिर समय-समय पर मां-बाप से मिलने वाले सामान से। कहने के मायने यह हैं कि दहेज काफी औरतों के लिए एक जीवन रेखा है। इसे न लेने की सलाह का उसके लिए अर्थ वही होगा जो किसी श्रमिक को कहना कि वह दासता का विरोध मुफ्त में बिना वेतन लिए काम करके जताए।

पर दहेज आखिर क्या है? विवाह के समय हस्तांतरित किया धन। अपने आप में यह अच्छा या बुरा नहीं होता। कई अन्य समाजों में विवाह के समय अलग-अलग तरीकों से रुपयों-पैसों का लेन-देन होता रहा है चाहे वह मां के गहने पुत्री को देने या कोई कीमती विरासत आदि भेंट स्वरूप देने की परम्परा हो। हो सकता है कि इस परम्परा के चलते पुरुष विवाह के लिए धनी लड़कियां तलाशते हों, पर इस बात का कोई पुख्ता सबूत नहीं मिलता कि सभी समाजों में इसके कारण औरतों के साथ बदसलूकी की जाती हो। यह भी हो सकता है कि इससे औरत की स्थिति में कोई इजाफ़ा भी होता हो।

पत्नियों की प्रताड़ना का मूल कारण है मौजूदा परिवार के ढांचे में उनका आश्रित व सत्ताहीन दर्जा, जिसमें सभी आर्थिक व निर्णय लेने के अधिकार पुरुषों के हाथों में निहित होते हैं। हमें इन सत्ता संबंधों के बदलाव के लिए संघर्ष करना होगा। सिर्फ़ दहेज न देने से इस सच्चाई में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा कि सम्पत्ति पर पुरुषों का नियंत्रण है व औरतें इससे महरूम हैं।

सामाजिक-राजनैतिक कार्यकत्ताओं ने सिर्फ़ दहेज को पत्नियों के उत्पीड़न का ज़िम्मेदार ठहराया है व दहेज की बढ़ती मांगों का दोष समाज में बढ़ते लालच व भौतिकवाद को दिया है। मेरे अनुसार यह विश्लेषण भ्रमित करने वाला है और इससे दहेज प्रथा पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। कार्यकर्त्ता भव्य ब्याह आयोजनों व मंहगे तोहफ़े देने को भी महिला विरोधी करार देते हैं। पर मेरे अनुसार इस बेकार के आडम्बर को महिलाओं के विशेष हितों के विरोधी कारकों की आलोचना के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। समाज में ऐसे भव्य प्रदर्शन बच्चों के जन्मदिन या अन्य मौकों पर भी आयोजित किए जाते हैं। लिहाज़ा इन विवाहों को व इस विश्लेषण को कि दहेज के डर से ही लोग बेटियों की जगह बेटे चाहते हैं पर एक बार फिर गौर किया जाना चाहिए।

1970 के दशक में विवाहित स्त्रियों की दुर्घटनावश मृत्यु जो वास्तव में आत्महत्या या पत्नी-हत्या थी, के लिए दहेज का लोभ मुख्य कारण समझा गया था। इसकी एक वजह यह भी थी कि बेटियों के माता-पिता अक्सर दहेज की मांगों को उसकी प्रताढ़ना के लिए ज़िम्मेदार ठहराते थे। उनके लिए दहेज की मांग सबसे सर्वोपरि होती थी क्योंकि ये उत्पीड़न उन्हें भी झेलना पड़ता था। उत्पीड़न के बाकी अन्य रूप सिर्फ़ उनकी बेटी को झेलने पड़ते थे। अगर लड़की को उसकी सूरत के लिए या बेटा न पैदा करने के लिए उलाहना दी जाती है तो अक्सर मां-बाप उसे ससुराल के अनुसार ढालने की सीख देते हैं। पर दहेज की मांग के लिए उन्हें खुद को बदलना पड़ता है और धन-पूंजी का इन्तज़ाम करना पड़ता है। लिहाज़ा यह तकलीफ़ उन्हें अधिक चोट पहुंचाती है।

अगर किसी औरत को मार दिया जाता है या घर से निकाल दिया जाता है तब माता-पिता दहेज की मांग को मुख्य कारण इसलिए भी बताते हैं जिससे दहेज की रकम-सामान वापस मिल सके। अगर औरत जीवित भी है तो दहेज वापस लेना अधिक आसान है बजाय यह सुनिश्चित करने के कि वह सम्मानपूर्वक ससुराल में रह सके।

जब किसी औरत की मृत्यु हो जाती है तो मामला पुलिस तक लाने वाले अक्सर दहेज की मांग को उजागर करने को बाध्य होते हैं क्योंकि यही उत्पीड़न का एक ऐसा रूप है जिसकी पुलिस भी भर्त्सना करती है। मारपीट इत्यादि की रपट को अक्सर हल्के तौर पर लिया जाता है। हालांकि पत्नी के साथ मारपीट करना कानूनी अपराध है पर फिर भी उसे दहेज जितना संगीन जुर्म नहीं माना जाता। दहेज मांग को फौजदारी कानून के तहत दर्ज कराना व उस पर गंभीर कार्यवाही की मांग करना मामले की सुनवाई का सबसे आसान तरीका होता है। इस प्रक्रिया में दहेज, प्रताड़ना का मुख्य कारण बन जाता है। उत्पीड़न के अन्य रूपों को कम उजागर करने से परिवार के ढांचे में निहित औरत की सत्ताहीनता से सार्वजनिक तवज्जो हट जाती है।

अगर महिला द्वारा दर्ज शिकायतों को ध्यान से सुना जाये तो काफी अन्य बातें भी उभरती हैं जो दहेज की मांग के साथ-साथ नियमित रूप से सामने आती हैं। एक ऐसा ही कारक है परिवार, परवरिश व पुरखों को लेकर ताने-अपशब्द कहना। अपने काम के अनुभवों में मैंने एक भी ऐसा मामला नहीं देखा जहां महज़ दहेज ही इकलौता कारण हो जिसके चलते महिला को परेशान किया जा रहा हो। दहेज के साथ-साथ महिला को लेकर भी असंतोष जताया जाता है। उसे कहा जाता कि उसके पति को ज़्यादा दहेज के साथ उससे बेहतर बीवी मिल सकती थी। उसके दहेज की आलोचना दरअसल उसके परिवार व उसकी खुद की आलोचना करने का ही एक तरीका है। यही कारण है कि दहेज की मांग पूरी हो जाने पर भी औरत को ससुराल में अपनत्व नहीं मिल पाता।

यह भी महत्वपूर्ण है कि महिला का उत्पीड़न केवल कम दहेज लाने पर ही नहीं किया जाता। अगर वह ज़्यादा दहेज लाती हो तो उसे मगरूर या ससुराल वालों की तौहीन करके मायके का रुतबा ऊंचा रखने का दोषी करार दिया जाता है। इसी तरह उसकी खूबसूरती या बदसूरती या कम शिक्षा या उच्च शिक्षा किसी को भी उसके व्यवहार के लिए दोषी ठहराया जा सकता है। अगर उसके माता-पिता उस पर स्नेह रखें तो यह भी गलत ठहराया जा सकता है ठीक उसी तरह जैसे उनका उसके प्रति बेरूखी दिखाना।

यानी कोई भी एक ऐसी सकारात्मक या नकारात्मक विशेषता नहीं है जिसका इस्तेमाल औरत के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि जिसमें सुधार लाना है वह औरत की विशेषताएं या साज-सामान नहीं है बल्कि उसका कमतर दर्जा, जो उसे आश्रित व मजबूर बनाता है और जिसके कारण वह हिंसा व ज़िल्लत झेलती है। सिर्फ़ दहेज बंद करने से उसकी प्रताड़ना बंद हो जायेगी यह सोचना सही नहीं है।

दहेज ससुराल वालों द्वारा उत्पीड़न को जायज़ ठहराने का एक ज़रिया है। पारिवारिक ढांचे में औरत का दोयम और निर्भर दर्जा उसके साथ दुर्व्यवहार को बरकरार रखने में मदद करता है। जब यह दुर्व्यवहार अपनी सीमा तोड़ता है तभी सबका ध्यान इसकी ओर जाता है। अपने आप में दहेज औरत की मजबूरी का कारण

नहीं बनता। अक्सर रिश्तों में हिंसा और प्रताड़ना भी होती है। यह भी देखा गया है कि अगर औरत के पास आय के स्वतंत्र साधन, रोज़गार व समाज में दर्जा है और उसमें आत्मविश्वास है तो दहेज के होने न होने से कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ता।

असली समस्या धन, फर्नीचर, वाहन, कपड़े, गहनों चाहे महंगे या अधिक हों में नहीं बल्कि उसके नियंत्रण में है। हमारे समाज में औरतों से उम्मीद की जाती है कि वे सम्पत्ति अपने पति या भाइयों के हक़ में छोड़ दें। एक पत्नी को अपने जीवन व सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने वाली स्वतंत्र व्यक्ति नहीं समझा जाता बल्कि उसे कुछ विशेष कार्यों को अंजाम देने वाली एक सम्पदा की तरह देखा जाता है। वह सम्पत्ति लाने का ज़रिया या वारिस पैदा करने या सेवा प्रदान करने वाली के रूप में ही देखी जाती है।

एक औरत खुद भी अपने आप को इसी भूमिका में देखने की आदी हो जाती है। अपने मायके में भी उसे सम्पत्ति, कारोबार या पैसे की देखभाल करने का मौका नहीं दिया जाता। बेटियों को अपने पैरों पर खड़े होने, उच्च शिक्षा पाने या नौकरी करने के लिए भी प्रोत्साहित नहीं किया जाता। आर्थिक स्वतंत्रता का जीवन लड़कियों के लिए अपवाद ही समझा जाता है।

सुरक्षा के दायरे में कैद करके, लड़की को विकलांग बनाने वाला परिवार-समुदाय विवाह के बाद उसे ससुराल वालों के रहमोकरम पर छोड़ देता है। उसकी खुशी इस बात पर निर्भर करती है कि वे उसकी ज़िंदगी पर किस हद तक अपना नियंत्रण रखते हैं। अगर वह खुशकिस्मत है तो ससुराल वाले उसके जीवन पर अपनी सत्ता का प्रयोग नहीं करेगें। और अगर वे उसे तकलीफ़ देना चाहे तो दहेज का होना या न होना कोई मायने नहीं रखता। अधिकतर महिलाएं इस सच्चाई को जानती हैं और इसलिए वह इस बात को स्वीकार नहीं करती कि दहेज लेने से इंकार करने में उनका अपना कल्याण है।

दूसरी ओर अगर एक औरत अपनी देखभाल करने में सक्षम है तब दहेज की मौजूदगी से उसे कोई नुक्सान नहीं पहुंचेगा। अगर उसके साथ दुर्व्यवहार किया जाएगा तो वह विरोध करेगी और हो सकता है अपना दहेज लेकर ससुराल छोड़कर वापस भी आ जाए। इसी संदर्भ को मद्देनज़र रखकर सर्वोच्च न्यायालय ने दहेज को *स्त्रीधन* माना है। यहां सिर्फ़ नाम बदलने की बात नहीं है। न्यायालय ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि सम्पत्ति पर नियंत्रण के संबंधों में परिवर्तन स्त्री के हित में होगा।

आज के दौर में मैं दहेज बहिष्कार की बात करना फ़िज़ूल समझती हूं। इसकी जगह मैं चाहती हूं कि हम औरतों के लिए उत्तराधिकार अधिकारों की मांग करें। *हमें दहेज मत दो, दहेज मत लो,* नारे की जगह *बेटियों को विरासत दो, बेटियों, अपनी विरासत लो* का नारा बुलंद करना चाहिए।

ऐसे करने के लिए हमें कुछ ठोस कदम उठाने होगें जैसेः

- कोई भी वसीयत जो बेटियों को विरासत से बेदखल करे, खारिज़ कर दी जानी चाहिए।
- सभी भूमि, सम्पत्ति व उत्तराधिकार कानून जिसमें भूमि सीलिंग कानून भी शामिल हो, को संबोधित करके उसमें महिलाओं को समान अधिकार (विशेषतः मकान व भूमि जैसी अचल सम्पत्ति पर) दिये जाने चाहिए।
- ऐसा कोई भी दस्तावेज़ जहां औरत अपने अधिकार पति, भाई या ससुराल वालों के लिए छोड़ दे को अवैध करार दिया जाना चाहिए।
- अपने माता-पिता से मिलने वाली सम्पत्ति को अपने पति या ससुराल वालों को सौंपने का औरत को कोई हक़ नहीं होना चाहिए। अगर वह निसंतान या संदिग्ध हालातों में मृत पाई जाती है तो सम्पत्ति उसके माता-पिता को वापस मिलनी चाहिए। इससे यह सुनिश्चित हो सकेगा कि विरासत के लालच में उसकी हत्या न की जाये। उसकी विरासत उसके बाद उसके बच्चों को मिलनी चाहिए।

औरत को उत्तराधिकार हक़ मुहैय्या होने पर दहेज प्रथा अपने आप ही खत्म हो जाएगी। तब विवाह में मिलने वाले उपहारों को दहेज नहीं समझा जाएगा। समान उत्तराधिकार कानून से यह भी सुनिश्चित होगा कि अविवाहित लड़कियों के पास भी कुछ आर्थिक सुरक्षा हो।

हमें चाहिए कि हम औरतों के लिए संसाधन व ऐसी योग्यताएं मुहैय्या कराएं जिससे वे अपने हितों व जीवन को परिभाषित, नियंत्रित व उसकी रक्षा करने में सक्षम बन सकें। तब उन्हें दहेज मिले या न मिले यह उनके कल्याण और सम्पूर्ण विकास के लिए बेमानी होगा।

कहानी

चौथी का जोड़ा

इस्मत चुगताई

सहदरी के चौके पर आज फिर साफ-सुथरी जाजम बिछी थी। टूटी-फूटी खपरैल की झिर्रियों में से धूप के आड़े-तिरछे कतले पूरे दालान में बिखरे हुए थे। मोहल्ले की औरतें खामोश और सहमी हुई सी बैठी हुई थीं जैसे कोई बड़ी वारदात होने वाली हो। मांओं ने बच्चे छाती से लगा लिये थे। कभी-कभी कोई बच्चा रसद की कमी की दुहाई देकर चिल्ला उठता।

"नायं-नायं मेरे लाल!" दुबली-पतली मां उसे अपने घुटने पर लिटाकर यों हिलाती जैसे धान-मिले चावल सूप में फटक रही हो और बच्चा हुंकारे भर कर खामोश हो जाता।

आज कितनी आस भरी निगाहें कुबरा की मां के चेहरे को तक रही थीं। छोटे अर्ज़ की टूल के दो पाट तो जोड़ लिये गये, मगर अभी सफेद गज़ी का निशान ब्योंतने की किसी की हिम्मत न पड़ती थी। कांट-छांट के मामले में कुबरा की मां का रुतबा बहुत ऊंचा था। उनके सूखे-सूखे हाथों ने न जाने कितने दहेज संवारे थे, कितनी छठी-छूछक तैयार किये थे और कितने ही कफन नापे थे। जहां कहीं मुहल्ले में कपड़ा कम पड़ जाता और लाख जतन पर भी नाप न बैठती, कुबरा की मां के पास केस लाया जाता। कुबरा की मां कपड़े के कान निकालती, कलफ तोड़तीं, कभी तिकोन बनातीं, कभी चौखूंटा करतीं और दिल ही दिल में कैंची चलाकर आंखों से नाप-तोलकर मुस्कुरा उठतीं।

"आस्तीन और घेर तो निकल आयेगा, गिरेबान के लिए कतरन मेरी बकची से ले लो।" और मुश्किल आसान हो जाती। कपड़ा तराशकर वो कतरनों की पिण्डी बनाकर पकड़ा देतीं।

पर आज तो गज़ी का टुकड़ा बहुत ही छोटा था और सबको यकीन था कि आज तो कुबरा की मां की नाप तोल हार जायेगी। तभी तो सब दम साधे उनका मुंह ताक रही थीं। कुबरा की मां के चेहरे पर फिक्र की कोई शक्ल न थी। चार गज़ गज़ी के टुकड़े को वो निगाहों से नाप रही थीं। लाल टूल का अक्स उनके ज़र्द चेहरे पर रोशनी की तरह फूट रहा था। वो उदास-उदास गहरी झुर्रियां अंधेरी घटाओं की तरह एकदम उजागर हो गयीं, जैसे जंगल में आग भड़क उठी हो! और उन्होंने मुस्कुराकर कैंची उठायी।

मुहल्ले वालों के जमघट से एक लम्बी इत्मीनान की सांस उभरी। गोद के बच्चे भी ठसक दिए गए। चील-जैसी निगाहों वाली कुंवारियों ने लपाझप सुई के नाकों में डोरे पिरोए। नई ब्याही दुल्हनों ने अंगुश्ताने पहन लिए। कुबरा की मां की कैंची चल पड़ी थी।

सहदरी के आखिरी कोने में पलंग पर हमीदा पैर लटकाये, हथेली पर ठोड़ी रखे दूर कुछ सोच रही थी।

दोपहर का खाना निपटाकर इसी तरह बी-अम्मा सहदरी की चौकी पर जा बैठती हैं और बकची खोलकर रंगबिरंगे कपड़ों का जाल बिखेर दिया करती हैं। कूंडी के पास बैठी बरतन मांजती हुई कुबरा कनखियों से उन लाल कपड़ों को देखती तो एक सुर्ख छिपकली-सी उसके मटियाले रंग में लपक उठती। रुपहली कटोरियों के जाल जब पोले-पोले हाथों से खोलकर अपनी बाहों पर फैलाती तो उसका मुरझाया हुआ चेहरा एक अजीब अरमान भरी रोशनी से जगमगा उठता। गहरी सन्दूकों जैसी शिकनों पर कटोरियों का अक्स नन्हीं-नन्हीं मशालों की तरह जगमगाने लगता। हर टांके पर ज़री का काम हिलता और मशालें कंपकंपा उठतीं।

याद नहीं कब इस शबनमी दुपट्टे के बने-टके तैयार हुए और गाज़ी के भारी कब्र-जैसे सन्दूक की तह में डूब गये। कटोरियों के जाल धुंधला गये। गंगा-जमनी किरनें मान्द पड़ गयीं। तूली के लच्छे उदास हो गये। मगर कुबरा की बारात न आयी। जब एक जोड़ा पुराना हुआ जाता तो उसे चाले का जोड़ा कहकर सेंत दिया जाता और फिर एक नये जोड़े के साथ नयी उम्मीदों की शुरुआत हो जाती। बड़ी छानबीन के बाद नयी दुल्हन छांटी जाती। सहदरी के चौके पर साफ-सुथरी जाजम बिछती। मुहल्ले की औरतें हाथ में पानदान और बगलों में बच्चे दबाये झांझे बजाती आ पहुंचती।

"छोटे कपड़े की गोट तो उतर आयेगी, पर बच्चों का कपड़ा न निकलेगा।"

"लो बुआ लो, और सुनो। क्या निगोड़ी भारी टूल की चूलें पड़ेंगी?" और फिर सबके चेहरे फिक्रमन्द हो जाते। कुबरा की मां खामोश कीमियागर की तरह आंखों के फीते से तुलो-अर्ज़ नापतीं और बीवियां आपस में छोटे कपड़े के मुताल्लिक खुसर-पुसर करके कहकहे लगातीं। ऐसे में कोई मनचली कोई सुहाग या बन्ना छेड़ देती, कोई और चार हाथ आगे वाली समधनों को गालियां सुनाने लगती, बेहूदा गन्दे मज़ाक और चुहलें शुरू हो जातीं। ऐसे मौके पर कुंवारी-बालियों को सहदरी से दूर सिर ढांक कर खपरैल में बैठने का हुक्म दे दिया जाता और जब कोई नया कहकहा सहदरी से उभरता तो बेचारियां एक ठण्डी सांस भर कर रह जातीं। अल्लाह! ये कहकहे उन्हें खुद कब नसीब होंगे। इस चहल-पहल से दूर कुबरा शर्म की मारी मच्छरों वाली कोठरी में सर झुकाये बैठी रहती है। इतने में कतर-नाप निहायत नाजुक मोड़ पर पहुंच जाती। कोई कली उलटी कट जाती और उसके साथ बीवियों की मत भी कट जाती। कुबरा सहम कर दरवाज़े की आड़ से झांकती।

यही तो मुश्किल थी, कोई जोड़ा अल्लाह-मारा चैन से न सिलने पाया। जो कली उल्टी कट जाय तो जान लो, नाइन की लगाई हुई बात में ज़रूर कोई अड़ंगा लगेगा। या तो दूल्हे की कोई रखैल निकल आयेगी या उसकी मां ठोस कड़ों का अड़ंगा बांधेगी। जो गोट में कान आ जाय तो समझ लो मेहर पर बात टूटेगी या पलंग पर झगड़ा होगा। चौथी के जोड़े का शगुन बड़ा नाजुक होता है। बी-अम्मा की सारी मश्शाकी और सुघड़ापा धरा रह जाता। न जाने ऐन वक्त पर क्या हो जाता कि धनिया बराबर बात तूल पकड़ जाती। बिसमिल्लाह के ज़ोर से सुघड़ मां ने दहेज जोड़ना शुरू किया था। ज़रा सी कतर भी बची तो तेलदानी या शीशी का गिलाफ़ सीकर रख देतीं। लड़की का क्या है, खीरे-ककड़ी सी बढ़ती है। जो बारात आ गयी तो यही सलीका काम आयेगा।

और जब से अब्बा गुज़रे, सलीके का भी दम फूल गया। हमीदा को एकदम अपने अब्बा याद आ गये। अब्बा कितने दुबले-पतले लम्बे जैसे मुहर्रम का अलम! एक बार झुक जाते तो सीधे खड़े होना दुश्वार था। सुबह ही सुबह उठ कर नीम की दातुन तोड़ लेते और हमीदा को घुटनों पर बिठा कर जाने क्या सोचा करते। फिर सोचते-सोचते नीम की मिस्वाक का कोई फूंसड़ा हलक में चला जाता और वे खांसते ही चले जाते। हमीदा बिगड़ कर उनकी गोद से उतर जाती। खांसी के धक्कों से यूं हिल-हिल जाना उसे कतई पसन्द नहीं था। उसके नन्हें से गुस्से पर वे और हंसते और खांसी सीने मे बेतरह उलझती, जैसे गरदन-कटे कबूतर फड़फड़ा रहे हों। फिर बी-अम्मा आकर उन्हें सहारा देतीं। पीठ पर धपधप हाथ मारतीं।

"तौबा है ऐसी भी क्या हंसी।"

अच्छू के दबाव से सुर्ख आंखें ऊपर उठाकर अब्बा बेकसी से मुस्कराते। खांसी तो रूक जाती मगर देर तक हांफ़ा करते।

"कुछ दवा-दारू क्यों नहीं करते? कितनी बार कहा तुमसे।"

"बड़े शफाखाने का डॉक्टर कहता है, सूईयां लगवाओ और रोज़ तीन पाव दूध और आधी छटांक मक्खन।"

"ए खाक पड़े इन डॉक्टरों की सूरत पर! भला एक तो खांसी, ऊपर से चिकनाई! बलगम न पैदा कर देगी? हकीम को दिखाओ किसी।"

"दिखाऊंगा।" अब्बा हुक्का गुड़गुड़ाते और फिर अच्छू लगता।

"आग लगे इस मुए हुक्के को! इसी ने तो ये खांसी लगायी है। जवान बेटी की तरफ भी देखते हो आंख उठाकर?

और अब अब्बा कुबरा की जवानी की तरफ रहम-तलब निगाहों से देखते। कुबरा जवान थी। कौन कहता था जवान थी? वो तो जैसे बिस्मिल्लाह के दिन से ही अपनी जवानी की आमद की सुनावनी सुनकर ठिठक कर रह गयी थी। न जाने कैसी जवानी आयी थी कि न तो उसकी आंखों में किरनें नाचीं, न उसके रुखसारों पर जुल्फ़ें परेशान हुईं, न उसके सीने पर तूफान उठे और न कभी उसने सावन-भादों की घटाओं से मचल-मचल कर प्रीतम या साजन मांगे। वो झुकी-झुकी, सहमी-सहमी जवानी जो न जाने कब दबे पांव उस पर रेंग आयी, वैसे ही चुपचाप न जाने किधर चल दी। मीठा बरस नमकीन हुआ और फिर कड़वा हो गया।

अब्बा एक दिन चौखट पर औंधे मुंह गिरे और उन्हें उठाने के लिये किसी हकीम या डॉक्टर का नुस्खा न आ सका।

और हमीदा ने मीठी रोटी के लिये ज़िद करनी छोड़ दी।

और कुबरा के पैगाम न जाने किधर रास्ता भूल गये। जानो किसी को मालूम ही नहीं कि इस टाट के परदे के पीछे किसी की जवानी आखिरी सिसकियां ले रही है और एक नयी जवानी सांप के फन की तरह उठ रही है।

मगर बी-अम्मा का दस्तूर न टूटा। वो इसी तरह रोज़-रोज़ दोपहर को सहदरी में रंग-बिरंगे कपड़े फैला कर गुड़िया का खेल खेला करती हैं।

कहीं न कहीं से जोड़ जमा करके शरबत के महीने में क्रेप का दुपट्टा साढ़े सात रुपये में खरीद ही डाला। बात ही ऐसी थी कि बगैर खरीदे गुज़ारा न था। मंझले मामू का तार आया कि उनका बड़ा लड़का राहत पुलिस की ट्रेनिंग के सिलसिले में आ रहा है। बी-अम्मा को तो बस जैसे एकदम घबराहट का दौरा पड़ गया। जानो चौखट पर बारात आन खड़ी हुई और उन्होंने अभी दुल्हन की मांग अफशां भी नहीं कतरी। हौल से तो उनके छक्के छूट गये। झट अपनी मुंहबोली बहन, बिन्दु की मां को बुला भेजा कि बहन, मेरा मरी का मुंह देखो जो इस घड़ी न आओ।

और फिर दोनों में खुसर-पुसर हुई। बीच में एक नज़र दोनों कुबरा पर भी डाल लेतीं, जो दालान में बैठी चावल फटक रही थी। वो इस कानाफूसी की जबान को अच्छी तरह समझती थी।

उसी वक्त बी-अम्मा ने कानों से चार माशा की लौंगें उतार कर मुंहबोली बहन के हवाले कीं कि जैसे-तैसे करके शाम तक तोला भर गोकरू, छः माशा सलमा-सितारा और पाव गज़ नेफे के लिये टूल ला दें। बाहर की तरफ वाला कमरा झाड़-पौंछ कर तैयार किया गया। थोड़ा सा चूना मंगा कर कुबरा ने अपने हाथों से कमरा पोत डाला। कमरा तो चिट्टा हो गया मगर उसकी हथेलियों की खाल उड़ गयी। और जब वो शाम को मसाला पीसने बैठी तो चक्कर खाकर दोहरी हो गयी। सारी रात करवटें बदलते गुज़री। एक तो हथेलियों की वजह से दूसरे, सुबह की गाड़ी से राहत आ रहे थे।

"अल्लाह! मेरे अल्लाह मियां, अबके तो मेरी आपा का नसीब खुल जाये। मेरे अल्लाह, मैं सौ रकात नफ़िल (एक प्रकार की नमाज) तेरी दरगाह में पढ़ूंगी।" हमीदा ने फजिर की नमाज पढ़कर दुआ मांगी।

सुबह जब राहत भाई आये तो कुबरा पहले से ही मच्छरों वाली कोठरी में जा छुपी थी। जब सेवइयों और पराठों का नाश्ता करके बैठक में चले गये तो धीरे-धीरे नई दुल्हन की तरह पैर रखती हुई कुबरा कोठरी से निकली और जूठे बर्तन उठा लिए।

"लाओ मैं धो दूं बी-आपा।" हमीदा ने शरारत से कहा।

"नहीं।" वो शर्म से झुक गयीं।

हमीदा छेड़ती रही, बी-अम्मा मुस्कुराती रहीं और क्रेप के दुपट्टे में लप्पा टांकती रहीं।

जिस रास्ते कान की लौंग गयी उसी रास्ते फूल, पत्ता और चांदी की पाज़ेब भी चल दी थीं। और फिर हाथों की दो-दो चूड़ियां भी जो मंझले मामू ने रंडापा उतारने पर दी थीं। रूखी-सूखी खुद खाकर आये दिन राहत के लिये परांठे तले जाते, कोफ्ते, भुना पुलाव महकते। खुद सूखा निवाला पानी से उतार कर वो होने वाले दामाद को गोश्त के लच्छे खिलातीं।

"ज़माना बड़ा खराब है बेटी!" वो हमीदा को मुंह फुलाये देखकर कहा करतीं और वो सोचा करतीं- हम भूखे रह कर दामाद को खिला रहे हैं। बी-आपा सुबह-सबेरे उठकर मशीन की तरह जुट जाती हैं। निहार मुंह पानी का घूंट पीकर राहत के लिये परांठे तलती हैं। दूध औटाती हैं, ताकि मोटी सी मलाई पड़े। उसका बस नहीं था कि वो अपनी चर्बी निकाल कर उन परांठों में भर दे। और क्यों न भरे, आखिर को वह एक दिन उसी का हो जायेगा। जो कुछ कमायेगा, उसी की हथेली पर रख देगा। फल देने वाले पौधे को कौन नहीं सींचता?

फिर जब एक दिन फूल खिलेंगे और फूलों से लदी हुई डाली झुकेगी तो ये ताना देने वालियों के मुंह पर कैसा जूता पड़ेगा! और उस खयाल ही से बी-आपा के चेहरे पर सुहाग खेल उठता। कानों मे शहनाइयां बजने लगतीं और वो राहत भाई के कमरे को पलकों से झाड़तीं। उसके कपड़ों को प्यार से तह करतीं, जैसे वे उनसे कुछ कहते हों। वो उनके बदबूदार, चूहों जैसे सड़े हुए मोज़े धोतीं, बिसान्दी बनियान और नाक से लिपटे हुए रूमाल साफ करतीं। उसके तेल में चिपचिपाते हुए तकिये के गिलाफ़ पर स्वीट ड्रीम्स

काढ़तीं। पर मामला चारों कोने चौकस नहीं बैठ रहा था। राहत सुबह अण्डे-परांठे चट कर जाता और शाम को आकर कोफ्ते खाकर सो जाता। और बी-अम्मा की मुंहबोली बहन हाकिमाना अन्दाज़ में खुसर-पुसर करतीं।

"बड़ा शर्मीला है बेचारा!" बी-अम्मा तौलिया पेश करतीं।

"हां, ये तो ठीक है, पर भई कुछ तो पता चले रंग-ढंग से, कुछ आंखों से।"

"ए न, खुदा न करे मेरी लौंडिया आंखें लड़ाए, उसका आंचल भी नहीं देखा है किसी ने।" बी-अम्मा फ़क्र से कहतीं।

"ए, तो परदा तुड़वाने को कौन कहे है!" बी-आपा के पके मुंहासों को देखकर उन्हें बी-अम्मा की दूरंदेशी की दाद देनी पड़ती।

"ऐ बहन, तुम तो सच में बहुत भोली हो। ये मैं कब कहूं हूं? ये छोटी निगाड़ी कौन सी बकरीद को काम आयेगी?" वो मेरी तरफ देखकर हंसतीं "अरी ओ नकचढ़ी! बहनोई से कोई बातचीत, हंसी-मज़ाक! उंह, अरे चल दिवानी।!"

"ऐ, तो मैं क्या करूं खाला?"

"राहत मियां से बातचीत क्यों नहीं करती?"

"भइया हमें तो शर्म आती है।"

"ए हैं, वो तुझे फाड़ ही तो खायेगा न? बी-अम्मा चिढ़ा कर बोलतीं।

"नहीं तो मगर" मैं लाजवाब हो गयी।

और फिर मिसकौट हुई। बड़ी सोच-विचार के बाद खली के कबाब बनाये गये। आज बी-आपा भी कई बार मुस्कुरा पड़ीं। चुपके से बोलीं, "देख हंसना नहीं, नहीं तो सारा खेल बिगड़ जायेगा।"

"नहीं हंसूंगी।" मैंने वादा किया।

"खाना खा लीजिये।" मैंने चौकी पर खाने की सेनी रखते हुए कहा। फिर जो पाटी के नीच रखे हुए लोटे से हाथ धोते वक्त मेरी तरफ सिर से पांव तक देखा तो मैं भागी वहां से। अल्लाह, तौबा! क्या खूनी आंखे हैं।

"जा निगोड़ी, मरी देख, तो सही, वो कैसा मुंह बनाते हैं। ए हैं, सारा मज़ा किरकिरा हो जायेगा।"

आपा-बी ने एक बार मेरी तरफ देखा। उनकी आखों में इल्तिजा थी, लुटी हुई बारातों का गुबार था और चौथी के पुराने जोड़ों की मन्द उदासी। मैं सिर झुकाए फिर खम्भे से लग कर खड़ी हो गयी।

राहत खामोश रहे। मेरी तरफ न देखा। खली के कबाब खाते देखकर मुझे चाहिये था कि मज़ाक उड़ांऊ, कहकहे लगाऊं कि, वाह जी वाह, दुल्हा भाई, खली के कबाब खा रहे हो! मगर जानो किसी ने मेरा नखरा दबोच लिया हो।

बी-अम्मा ने मुझे जलकर वापस बुला लिया और मुंह ही मुंह में मुझे कोसने लगीं। अब मैं उनसे क्या कहती, कि वो मज़े से खा रहा है कमबख्त!

"राहत भाई! कोफ़्ते पसन्द आये? बी-अम्मा के सिखाने पर मैंने पूछा।

जवाब नदारद।

"बताइये न?"

"अरी ठीक से जाकर पूछ!" अम्मा ने टोक दिया।

"आपने लाकर दिये और हमने खाये। मज़ेदार ही होंगे।"

"अरे वाह रे जंगली!" बी-अम्मा से न रहा गया।

"तुम्हें पता भी न चला, क्या मज़े से खली के कबाब खा गये।"

"खली के? अरे तो रोज़ काहे के होते हैं? मैं तो आदी हो चला हूं खली और भूसा खाने का।"

बी-अम्मा का मुंह उतर गया। बी-अम्मा की झुकी हुई पलकें ऊपर न उठ सकीं। दूसरे रोज़ बी-आपा ने रोज़ाना से दुगुनी सिलाई की और फिर जब शाम को मैं खाना लेकर गयी तो बोले-

"कहिये आज क्या लायी हैं? आज तो लकड़ी के बुरादे की बारी है।"

"क्या हमारे यहां का खाना आपको पसन्द नहीं आता?" मैंने जलकर कहा।

"ये बात नहीं, कुछ अजीब-सा मालूम होता है। कभी खली के कबाब तो कभी भूसे की तरकारी।"

मेरे तन बदन में आग लग गयी। हम सूखी रोटी खाकर इसे हाथी की खुराक दें। घी टपकते परांठे ठुसाएं। मेरी बी-आपा को जोशांदा नसीब नहीं और इसे दूध मलाई निगलावाएं। मैं भन्ना कर चली आयी।

बी-अम्मा की मुंहबोली बहन का नुस्खा काम आ गया और राहत ने दिन का ज़्यादा हिस्सा घर ही में गुज़ारना शुरू कर दिया। बी-आपा तो चूल्हे में झुकी रहतीं, बी-अम्मा

चौथी के जोड़े सिया करतीं और राहत की गलीज आंखों के तीर मेरे दिल में चुभा करते। बात-बेबात छेड़ना, खाना खिलाते वक्त कभी पानी तो कभी नमक के बहाने। और साथ-साथ जुमलेबाजी! मैं खिसिया कर बी-आपा के पास जा बैठती। जी चाहता किसी दिन साफ कह दूं कि किसकी बकरी और कौन डाले दाना-घास! ऐ बी, मुझसे तुम्हारा ये बैल न नाथा जायेगा। मगर बी-आपा के उलझे हुए बालों पर चूल्हे की उड़ती हुई राख। नहीं, मेरा कलेजा धक से हो गया। मैंने उनके सफेद बाल लट के नीचे छुपा दिये। नास जाये इस कमबख्त नजले का, बेचारी के बाल पकने शुरू हो गये।

राहत ने फिर किसी बहाने मुझे पुकारा।

"उंह!" मैं जल गयी। पर बी-आपा ने कटी हुई मुर्गी की तरह जो पलट कर देखा तो मुझे जाना ही पड़ा।

"आप हमसे खफ़ा हो गयीं?" राहत ने पानी का कटोरा लेकर मेरी कलाई पकड़ ली। मेरा दम निकल गया और भागी तो हाथ झटककर।

"क्या कह रहे थे?" बी-आपा ने शर्मो-हया से घुटी आवाज़ में कहा। मैं चुपचाप उनका मुंह ताकने लगी।

"कह रह थे किसने पकाया है खाना? वाह-वाह जी चाहता है खाता ही चला जाऊं। पकाने वाली के हाथ खा जाऊं। ओह नहीं खा नहीं जाऊं, बल्कि चूम लूं।" मैंने जल्दी-जल्दी कहना शुरू किया और बी-आपा का खुरदरा, हल्दी-धनिया की बसांद में सड़ा हुआ हाथ अपने हाथ से लगा लिया। मेरे आंसू निकल आये। ये हाथ! मैंने सोचा, जो सुबह से शाम तक मसाला पीसते हैं, पानी भरते हैं, प्याज़ काटते हैं, बिस्तर बिछाते हैं, जूते साफ करते हैं! ये बेकस गुलाम की तरह सुबह से शाम तक जुटे ही रहते हैं। इनकी बेगार कब खत्म होगी? क्या इनका कोई खरीदार न आयेगा? क्या इन्हें कभी प्यार से न चूमेगा? क्या इनमें कभी मेंहदी न रचेगी? क्या इनमें कभी सुहाग का इतर न बसेगा? जी चाहा, ज़ोर से चीख पड़ूं।

"और क्या कह रहे थे?" बी-आपा के हाथ तो इतने खुरदरे थे पर आवाज़ इतनी रसीली और मीठी थी कि राहत के अगर कान होते तो... । मगर राहत के न कान थे न नाक, बस दोज़ख जैसा पेट था!

"और कह रहे थे, अपनी बी-आपा से कहना कि इतना काम न किया करें और जोशांदा पिया करें।"

"चली झूठी!"

"अरे वाह, झूठे होंगे आपके वो"

"अरे, चुप मुरदार!" उन्होंने मेरा मुंह बन्द कर दिया।

"देख तो स्वेटर बुन गया है, उन्हें दे आ। पर देख, तुझे मेरी कसम मेरा नाम न लीजो।"

"नहीं बी-आपा! उन्हें न दो स्वेटर। तुम्हारी इन मुट्ठी भर हड्डियों को स्वेटर की कितनी ज़रूरत है?

मैंने कहना चाहा पर न कह सकी।

"आपा-बी, तुम खुद क्या पहनोगी?"

"अरे, मुझे क्या ज़रूरत है, चूल्हे के पास तो वैसे ही झुलसन रहती है।"

स्वेटर देखकर राहत ने अपनी एक आई-ब्रो शरारत से ऊपर तान कर कहा-"क्या ये स्वेटर आपने बुना है।?"

"नहीं तो।"

"तो भई हम नहीं पहनेंगे।"

मेरा जी चाहा कि उसका मुंह नोच लूं। कमीने, मिट्टी के लोंदे! ये स्वेटर उन हाथों ने बुना है जो जीते-जागते गुलाम हैं। इसके एक-एक फन्दे में किसी नसीबों जली के अरमानों की गरदनें फंसी हुई हैं। ये उन हाथों का बुना हुआ है जो नन्हें पगोडे झुलाने के लिये बनाये गये हैं। उनको थाम लो, गधे कहीं के। और ये दो पतवार बड़े से बड़े तूफान के थपेड़ों से तुम्हारी ज़िन्दगी की नाव को बचाकर पार लगा देंगे। ये सितार की गत न बजा सकेंगे। मणिपुरी और भरतनाट्यम की मुद्रा न दिखा सकेंगे, इन्हें प्यानो पर रक्स करना नहीं सिखाया गया, इन्हें फूलों से खेलना नहीं नसीब हुआ, मगर ये हाथ तुम्हारे जिस्म पर चर्बी चढ़ाने के लिये सुबह शाम सिलाई करते हैं, साबुन और सोडे में डुबकियां लगाते हैं, चूल्हे की आंच सहते हैं। तुम्हारी गलाजतें धोते हैं। इनमें चूड़ियां नहीं खनकती हैं। इन्हें कभी किसी ने प्यार से नहीं थामा।

मगर मैं चुप रही। बी-अम्मा कहती हैं, मेरा दिमाग तो मेरी नयी-नयी सहेलियों ने खराब कर दिया है। वो मुझे कैसी नयी-नयी बातें बताया करती हैं। कैसी डरावनी मौत की बातें, भूख की और काल की बातें। धड़कते हुए दिल के एकदम चुप हो जाने की बातें।

"ये स्वेटर तो आप ही पहन लीजिये। देखिये न आपका कुर्ता कितना बारीक है!"

जंगली बिल्ली की तरह मैंने उसका मुंह, नाक, गिरेबान नोच डाले और अपनी पलंग पर जा गिरी। बी-आपा ने आखिरी रोटी डालकर जल्दी-जल्दी तसले में हाथ धोए और आंचल से पोंछती मेरे पास आ बैठीं।

"वो बोले?" उनसे न रहा गया तो धड़कते हुए दिल से पूछा।

"बी-आपा, ये राहत भाई बड़े खराब आदमी हैं।" मैंने सोचा मैं आज सब कुछ बता दूंगी।

"क्यों?" वो मुस्कुरायी।

"मुझे अच्छे नहीं लगते। देखिए, मेरी सारी चूड़ियां चूर हो गयीं!" मैंने कांपते हुए कहा।

"बड़े शरीर है!" उन्होंने रोमान्टिक आवाज़ में शरमाकर कहा।

"बी-आपा, सुनो बी-आपा! ये राहत अच्छे आदमी नहीं" मैंने सुलग कर कहा।

"आज मैं बी-अम्मा से कह दूंगी।"

"क्या हुआ?" बी-अम्मा ने जाजम बिछाते हुए कहा।

"देखिये मेरी चूड़ियां बी-अम्मा!"

"राहत ने तोड़ डालीं?" बी-अम्मा चहक कर बोलीं।

"हां!"

"खूब किया! उसे सताती भी तो बहुत है। ए हैं, तो दम काहे को निकल गया! बड़ी मोम की बनी हुई हो कि हाथ लगाया और पिघल गयीं!" फिर चुमकार कर बोलीं "खैर, तू भी चौथी में बदला ले लीजियो, कसर निकाल लियो कि याद ही करें मियां जी!" ये कहकर उन्होंने नियत बांध ली। मुंहबोली बहन ने फिर कॉनफ्रेन्स हुई और मामले को उम्मीद रास्ते पर देखकर मुस्कुराया गया।

"ऐ हैं, तू तो बड़ी ही ठस है। ऐ हम तो अपने बहनोइयों का खुदा की कसम नाक में दम कर दिया करते थे।" और वो मुझे बहनोइयों से छेड़छाड़ के हथकण्डे बताने लगीं कि किस तरह सिर्फ़ छेड़छेड़ के तीरन्दाज़ नुस्खे से उन्होंने दो ममेरी बहनों की शादी करायी, जिनकी नाव पार लगने के सारे मौके हाथ से निकल चुके थे। एक तो उनमें से हकीम जी थे जहां बेचारे को लड़कियां-बालियां छेड़तीं शरमाने लगते और शरमाते-शरमाते एख्तेलाज के दौरे पड़ने लगते। और एक दिन मामू साहब से कह दिया कि मुझे गुलामी में ले लीजिये। दूसरे वायसरॉय के दफ्तर में क्लर्क थे। जहां सुना कि बाहर आये हैं लड़किया छेड़ना शुरू कर देती थीं। कभी गिलौरियों में मिर्च भरकर भेज दें, कभी सेवंईयों में नमक डालकर खिला दिया।

"ए लो, वे तो रोज़ आने लगे। आंधी आये, पानी आये, क्या मजाल जो वो न आयें। आखिर एक दिन कहलवा ही दिया। अपने एक जान-पहचान वाले से कहा कि उनके यहां शादी करा दो। पूछा कि भई किससे? तो कहा, "किसी से करा दो।" और खुदा झूठ न बुलवाये तो बड़ी बहन की सूरत थी कि देखो तो जैसे बैंचा चला आता है। छोटी तो बस सुब्हान अल्लाह! एक आंख पूरब, तो दूसरी पच्छम। पन्द्रह तोले सोना दिया बाप ने और साहब के दफ्तर में नौकरी अलग दिलवायी।"

"हां भई, जिसके पास पन्द्रह तोले सोना हो और बड़े साहब के दफ्तर की नौकरी, उसे लड़का मिलते देर लगती है?" बी-अम्मा ने ठण्डी सांस भरकर कहा।

"ये बात नहीं है बहन। आजकल लड़कों का दिल बस थाली का बैंगन होता है। जिधर झुका दो, उधर ही लुढ़क जायेगा।

मगर राहत तो बैंगन नहीं अच्छा-खासा पहाड़ है। झुकाव देने पर कही मैं ही न फंस जाऊं, मैंने सोचा। फिर मैंने आपा की तरफ देखा। वो खामोश दहलीज़ पर बैठी, आटा गूंथ रही थीं और सब कुछ सुनती जा रही थीं। उनका बस चलता तो ज़मीन की छाती फाड़कर अपने कुंवारेपन की लानत समेत इसमें समा जातीं।

क्या मेरी आपा मर्द की भूखी हैं? नहीं, भूख के अहसास से वो पहले ही सहम चुकी हैं। मर्द का तसव्वुर इनके मन में एक उमंग बनकर नहीं उभरा, बल्कि रोटी-कपड़े का सवाल बन कर उभरा है। वो एक बेवा की छाती का बोझ हैं। इस बोझ को ढकेलना ही होगा।

मगर इशारों के बावजूद भी राहत मियां न तो खुद मंह से फूटे और न उनके घर से पैगाम आया। थक-हार कर बी-अम्मा ने पैरों के तोड़े गिरवी रख कर पीर मुश्किलकुशा की नियाज़ दिला डाली। दोपहर भर मुहल्ले-टोले की लड़कियां सहन में ऊधम मचाती रहीं। बी-आपा शरमाती, लजाती मच्छरों वाली कोठरी में अपने खून की आखिरी बूंदें चुसाने को जा बैठीं। बी-अम्मा अपनी चौकी पर बैठी चौथी के जोड़े में आखिरी टांके लगती रहीं। आज उनके चेहरे पर मंज़िलों के निशान थे। आज मुश्किलकुशाई होगी। बस

आंखों की सुईयां रही गयी हैं, वो भी निकल जायेंगी। आज उनकी झुर्रियों में फिर मुश्किल थरथरा रही थी। बी-आपा की सहेलियां उनको छेड़ रही थीं और वो खून की बची-खुची बूंदों को ताव में ला रही थीं। आज कई रोज़ से उनका बुखार नहीं उतरा था। थके हारे दीये की तरह उनका चेहरा एक बार टिमटिमाता और फिर बुझ जाता। इशारे से उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया। अपना आंचल हटाकर नियाज़ के मलीदे की तश्तरी मुझे थमा दी।

"इस पर मौलवी साहब ने दम किया है।" उनकी बुखार से दहकती हुई गरम-गरम सांसें मेरे कान में लगीं।

तश्तरी लेकर मैं सोचने लगी मौलवी साहब ने दम किया है। ये मुकद्दस मलीदा अब राहत के पेट में झोंका जायेगा। वो तन्दूर जो छः महीनों से हमारे खून के छींटों से गरम रखा गया। ये दम किया हुआ मलीदा मुराद बर लायेगा। मेरे कानों में शादियाने बजने लगे। मैं भागी-भागी कोठे से बारात देखने जा रही हूं। दूल्हे के मुंह पर लम्बा सा सेहरा पड़ा है, जो घोड़े की अयालों को चूम रहा है।

चौथी का शहानी जोड़ा पहने, फूलों से लदी, शर्म से निढाल, आहिस्ता-आहिस्ता कदम तोलती हुई बी-आपा चली आ रही हैं। चौथी का ज़रतार जोड़ा झिलमिल कर रहा है। बी-अम्मा का चेहरा फूल की तरह खिला हुआ है। बी-आपा की हया से बोझिल निगाहें एक बार ऊपर उठती हैं। शुकराने का एक आंसू ढलक कर अफ्शां के ज़र्रों में कुमकुम की तरह उलझ जाता है।

"ये सब तेरी मेहनत का फल है।" बी-आपा कह रही हैं।

हमीदा का गला भर आया।

"जाओ न मेरी बहना!" बी-आपा ने उसे जगा दिया और चौंक कर ओढ़नी के आंचल से आंसू पोंछती डयोढ़ी की तरफ बढ़ी।

"ये मलीदा" उसने उछलते हुए दिल को काबू में रखते हुए कहा। उसके पैर लरज रहे थे, जैसे वो सांप की बांबी में घुस आयी हो। फिर पहाड़ खिसका और मुंह खोल दिया। वो एक कदम पीछे हट गयी। मगर दूर कहीं बारात की शहनाइयों ने चीख लगाई, जैसे कोई दिन का गला घोंट रहा हो। कांपते हाथों से मुकद्दस मलीदे का निवाला बनाकर उसने राहत के मुंह की तरफ बढ़ा दिया।

एक झटके से उसका हाथ पहाड़ की खोह मे डूबता चला गया। नीचे तअफ्फुन और तारीकी से अथाह गार की गहराइयों में एक बड़ी सी चट्टान ने उसकी चीख को घोंटा। नियाज़ मलीदे की रकाबी हाथ से छूटकर लालटेन के ऊपर गिरी और लालटेन ने ज़मीन पर गिर कर दो चार सिसकियां भरीं और गुल हो गयी। बाहर आंगन में मुहल्ले की बहू-बेटियां मुश्किलकुशा, हज़रत अली की शान में गीत गा रही थीं।

सुबह की गाड़ी से राहत मेहमानवाज़ी का शुक्रिया अदा करता हुआ चला गया। उसकी शादी की तारीख तय हो चुकी थी और उसे जल्दी थी। उसके बाद इस घर में कभी अण्डे तले न गये, परांठे न सिकें और स्वेटर न बुने। दिक जो एक अरसे से बी-आपा की ताक में भागी पीछे-पीछे आ रही थी, एक ही जस्त में उन्हें दबोच बैठी। और उन्होंने अपना नामुराद वजूद चुपचाप उसकी आगोश में सौंप दिया।

और फिर उसी सहदरी में साफ-सुथरी जाजम बिछाई गई। मुहल्ले की बहू-बेटियां जुड़ीं। कफन का सफेद-सफेद लट्ठा मौत के आंचल की तरह बी-अम्मा के सामने फैला गया। तहम्मुल के बोझ में उनका चेहरा लरज रहा था। बायीं आई-ब्रो फड़क रही थी। गालों की सुनसान झुर्रियां भांय-भांय कर रही थीं, जैसे उनमें लाखों अजहदे फुंकार रहे हों।

लट्ठे के कान निकाल कर उन्होंने चौपरत किया और उनके दिल में अनगिनत कैंचियां चल गयीं। आज उनके चेहरे पर भयानक सुकून और हरा-भरा इत्मीनान था, जैसे उन्हें पक्का यकीन हो कि दूसरे जोड़ों की तरह चौथी का यह जोड़ा न सेंता जायेगा।

एकदम सहदरी में बैठी लड़कियां-बालियां मैनाओं की तरह चहकने लगीं। हमीदा उनके साथ जा मिली। लाल टूल पर सफेद गज़ी का निशान! इसकी सुर्खी में न जाने कितनी मासूम दुल्हनों का सुहाग रचा है और सफेदी में कितनी नामुराद कुंवारियों के कफ़न की सफेदी डूब कर उभरी है। और फिर सब एकदम खामोश हो गये। बी-अम्मा ने आखिरी टांका भरके डोरा तोड़ लिया। दो मोटे-मोटे आंसू उनके रूई जैसे नरम गालों पर धीरे-धीरे रेंगने लगे। उनके चेहरे की शिकनों में से रोशनी की किरनें फूट निकलीं और वो मुस्कुरा दीं जैसे आज उन्हें इत्मीनान हो गया कि उनकी कुबरा का सुआ जोड़ा बनकर तैयार हो गया हो और कोए-ए-अदम में शहनाइयां बज उठेगीं।

दहेज से पार पाएं, पर कैसे?

कल्पना शर्मा

जब नॉयडा की रहने वाली निशा शर्मा ने दहेज मांगे जाने पर शादी करने से इंकार कर दिया तो किसी भी दहेज विरोधी आंदोलन का उदय नहीं हुआ? काश ऐसा होता। आखिर 1970 के दहेज विरोधी आंदोलन का आगाज़ महिलाओं द्वारा ही किया गया था। सत्यारानी चड्ढा ने अपनी बेटी के उत्पीड़न और दहेज हत्या होने पर इस रिवाज के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ी थी। पर प्रश्न यह है कि क्या एक लड़की या एक व्यक्ति के द्वारा उठाया गया छोटा सा कदम किसी दूर-दराज़ के अभियान की बुनियाद बन सकता है? समाज में शायद इसका जवाब है, हां। हम सब जो यह सोचते हैं कि एक छोटी शुरूआत करने से कोई फायदा नहीं होता, दरअसल अकेला महसूस करते हैं। ऐसे में हमें सत्यारानी चड्ढा और निशा शर्मा व उनके जैसी तमाम औरतों को याद करना चाहिए।

निशा को सभी लोगों की प्रशंसा व शाबाशी मिली। उसकी हिम्मत की भी दाद दी गई। पर किसी एक व्यक्ति या लड़की पर मीडिया की नज़र हमें कुछ कठोर सवाल उठाने से रोक नहीं सकती। मसलन निशा शर्मा के मामले में दो मुख्य बातें सामने उभरकर आती हैं। पहली, उसके माता पिता का उसे मिला सहयोग, जब उसने कहा कि वर-पक्ष की नकद की मांग बहुत अधिक थी। दूसरी, जब तक निशा व उसके परिवार को वर-पक्ष की मांगे जायज़ लगीं तब तक वे उन्हें पूरा करने के प्रयास करते रहे। यहां तक कि उन्होंने वर की शिक्षा के बारे में बोले गए झूठ को भी बर्दाश्त कर लिया।

इस दूसरी बात पर हमें गौर करना होगा। आखिर 'जायज़' मांगें कौन सी होती हैं? आखिर 'मांगें' होनी ही क्यों चाहिए? 'मांगना' क्यों? क्या कोई भी मांग जायज़ हो सकती है? कौन सी ऐसी दूसरी संस्कृति है जहां लड़कियों से अपेक्षा की जाती है कि वे घर के लिए तमाम उपकरण अपने मायके से लाएं- वाशिंग मशीन, फ्रिज, टीवी, फर्नीचर, अलमारी, चादर, पर्दे, स्कूटर या फिर कार? इसके अलावा कपड़ों और गहनों का अंबार। यहां तक कि कुछ परम्पराओं के अनुसार लड़की से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने शादी के सामान में इक्कीस, इकतीस या इक्तालीस भारी साड़ियां, ब्लाउज़, पेटिकोट और कभी-कभी मैचिंग चप्पलें भी साथ लेकर आए। इस तरह की मांग को हम 'जायज़' कैसे ठहरा सकते हैं? इसको वाजिब मानने का एक मात्र कारण शायद यह है कि ससुराल जाकर लड़की वर-पक्ष पर 'बोझ' न बन जाए। पर यह सोच भी कैसे और कहां से जन्मी? लड़की या औरत एक 'बोझ'? एक ऐसी लड़की जो, एक मायने में लगभग घरेलू नौकरानी की तरह ससुराल आती है, जिससे उम्मीद की जाती है कि वह न सिर्फ़ पति बल्कि उसके माता-पिता व भाई बहनों की सेवा-सत्कार करे, क्या वाकई बोझ है? उससे क्यों उम्मीद की जाती है कि वह ससुराल में मिलने वाली 'सुविधाओं' के लिए भुगतान करे और वह भी पेशगी भुगतान? इस मानसिकता में कहीं कुछ बहुत गलत, बहुत घिनौना है और हमें इसी सोच को चुनौती देनी है, इस पर सवाल उठाने हैं।

मुझे मालूम नहीं है कि इन सवालों के जवाब कभी तलाशे जाएंगें भी या नहीं। अगर हम इन केंद्रीय मुद्दों को नहीं जकड़ेंगे तो तमाम निशाएं वक्त की गर्द में फना हो जाएंगी और कई सत्यारानियों द्वारा चलाए अभियानों पर इतिहास की धूल जम जाएगी। और दहेज अपने नए-नए बदलते स्वरूपों में निरन्तर चलता रहेगा।

एक दूसरी गुत्थी जो हमें सुलझानी होगी वह है- क्या महज़ शिक्षा से यह बदलाव संभव हो सकता है? अगर हम निशा शर्मा की बात करें तो वह एक सॉफ्ट्वेयर इंजीनियर थी। उसकी शिक्षा ने ज़रूर उसे आत्म-योग्यता का बोध कराया होगा जिससे उसे पता चला कि कब 'अब बहुत हुआ' कहना है। पर इस केस के बाद मीडिया ने कुछ ऐसे मामलों को उजागर किया है जिनमें लड़कियां इतनी अधिक शिक्षित नहीं थीं। फिर भी उन लड़कियों ने दृढ़ता दिखाई जब परिवार और माता-पिता का सहयोग उन्हें मिला। दूसरी तरफ केरल जैसे प्रदेश में जहां औरतें शिक्षित, हुनरमंद और नौकरीपेशा हैं, में किए सर्वे से पता चलता है कि वहां पर दहेज की मांगें की जाती हैं और वधू-पक्ष उन्हें पूरा भी करते हैं। निशा और उनके जैसी तमाम हिम्मती लड़कियां हमें उस उम्मीद की किरण दिखाती हैं जिसका दौर शुरू हो गया है। दूसरी लड़कियों ने ये सब बहुत खामोशी के साथ किया है। पर निशा की मुखरता और उसका दबंग, अड़ियल रवैया उन दूसरी लड़कियों को ज़रूर हौसला और साहस देगा जो ऐसा करने के बारे में सोच रही हैं।

फिर भी संस्कृति में एक लड़की की 'न' कहने की क्षमता उसके परिवार के सहयोग पर निर्भर करती है। यह माता-पिता को तय करना होगा कि सीधे या परोक्ष रूप से दहेज मांगे जाने पर वे अपनी बेटी का विवाह करेंगे या नहीं। अगर विवाह के दौरान किसी भी समय उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि कोई मांग रखी जा रही है तो उन्हें उस रिश्ते को तोड़ने की हिम्मत दिखानी होगी। जब तक बड़ी संख्या में माता-पिता ऐसा नहीं करेंगे, बदलाव नहीं आएगा। बहरहाल, हम यह भी उम्मीद लगा सकते हैं कि भविष्य में लड़के इस सोच के साथ बड़े होगें कि पत्नी मिलना उनकी खुशनसीबी है और उन्हें अपनी पत्नी से शादी के लिए कीमत अदा करने की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। पर हमारे समाज की बेटों की चाह को देखते ऐसा होना कोई सपना ही लगता है।

इसके अलावा लड़कियों के बीच शिक्षा दर बढ़ने के बावजूद शादी के बाद एक लड़की घर के बाहर 'काम' कर सकेगी या नहीं यह भी उसका भावी पति ही तय करता है। हालांकि कोई पुख्ता सबूत नहीं है, फिर भी 'योग्य' वर के साथ विवाह होने पर नौकरीपेशा और व्यवसायिक लड़कियों का नौकरी छोड़कर, घर बैठना एक आम चलन है। हमने कितने ही ऐसे 'आधुनिक' शिक्षित नौजवानों को देखा है जो आप से कहेंगे कि उनकी होने वाली पत्नियां 'शादी के बाद बाहर काम करने नहीं जाएंगी'। क्यों? क्योंकि, आधुनिक होने का अर्थ हालांकि यह होना चाहिए कि मानसिक रूप से लड़के औरतों की ख्वाहिशों और अधिकारों को सम्मान दें। पर पत्नी के रूप में घर की चौखट पर कदम रखने के बाद ये सभी अधिकार पति व परिवार की ज़रूरतें पर बलि चढ़ जाते हैं। तो मतलब यह हुआ कि अगर पति को उनकी आमदनी की ज़रूरत हो तो औरत घर के बाहर काम कर सकती है। अगर ऐसा नहीं है तो उसे घर की चारदीवारी के बीच संतुष्ट रहना होगा क्योंकि 'यही उनकी सही सच्ची भूमिका और कर्तव्य है।'

पर दहेज के इस खेल में पुरुषों को मात देने के लिए लड़कियों को यह सदैव याद रखना चाहिए कि आंकड़ें उनके पक्ष में हैं। हमारे देश में लड़कियों से अधिक लड़के हैं। तो अगर लड़के शादी करना चाहते हैं तो उन्हें लड़कियों को मनाना होगा और शादी की कीमत भी अदा करनी होगी। लड़कियों को आत्म-विश्वास विकसित करना होगा, ध्यान रखना होगा कि वे आसानी से पुरुषों के झांसे में न आएं और अपने सही साथी की तलाश करें जो उन्हें सम्मान दे। आसानी से हार नहीं मानें। लड़कियों में आत्म-विश्वास, माता-पिता का सहयोग और हमारी इस 'विकृत' संस्कृति में परिवर्तन का सम्मिलित प्रयास ही इस 'अभिशाप' को खत्म करने मे मददगार सिद्ध होगा। कानून से भी मदद मिल सकती है, पर कुछ सीमा तक ही। जैसा कि कई बार देखा जा चुका है कानून मानसिकता और रवैयों में बदलाव नहीं ला सकता।

तो अगर लड़कियां, फुटबाल में डेविड बैकहैम की तरह गोल मार सकती हैं तो दहेज से पार क्यों नहीं पा सकतीं?

संवाद

चुनाव हमें ही करना है

जुही जैन

सन् 1961 में दहेज विरोधी क़ानून पारित किया गया और 1984 में इसमें संशोधन किया गया। पर दहेज की मांग दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। इसके साथ ही दहेज प्रथा उन समुदायों में भी शुरू हो गई है जिसमें इसका पहले नाम-निशान तक नहीं था। आज के दौर में दहेज के लेन-देन की परम्परा में बढ़ती आधुनिकता और उपभोक्तावाद का पुरज़ोर असर दिखाई पड़ रहा है। पहले रेडियो, स्कूटर, फ्रिज की मांग अब कार, कम्प्यूटर, हीरे के ज़ेवर, मकान तक आ पहुंची है। और लड़कियों की शादी करने के चक्कर में घर-परिवार और समाज इसे एक अपराध के रूप में तब तक नहीं देखता जब तक यह मांग हद से ज़्यादा न बढ़ जाए। और हद हर देने वाले परिवार की आर्थिक और सामाजिक ताक़त पर निर्भर करती है। दहेज लेने वाले वर परिवार ये मांगें जायज़ मानते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि लड़कों की पढ़ाई-लिखाई पर किए गये ख़र्च का यह मुआवज़ा है। वधू-पक्ष वाले इसे अपनी बेटियों की आजीवन सुरक्षा की कुंजी समझकर इस वैध करार देते हैं।

दरअसल दहेज औरतों पर होने वाली हिंसा और अत्याचार का एक मुख्य कारण है। बढ़ती हुई भौतिक साधनों की मांगें व लालच औरतों की ज़िंदगी नर्क बना देती है। ससुराल वालों की मांगे पूरी न करने की सूरत में लड़कियों को मार-पीट से लेकर हत्या तक का सफ़र तय करना पड़ता है। समाज की पितृसत्ता घिरी सोच मां-बाप के दिमाग पर छाई रहती है और बेटियों को यह विकल्प नहीं होता कि वे शादी का घर छोड़कर मायके वापस आ जाएं या फिर अपने पैरों पर खड़े होकर दोबारा नई ज़िंदगी शुरू करें। तलाक़ न लेने का सामाजिक दबाव सदैव लड़कियों की दहेज-हत्या में तब्दील हो जाता है।

दहेज को लेकर एक ग़लतफ़हमी जो हमारे दिमाग़ में पलती है वह यह कि अगर लड़के पढ़-लिख जायेंगे, ज़्यादा ऊंचे ओहदे पर नौकरी करने लगेंगे तो दहेज की मांग कम हो जायेगी।

पर अनुभव बताते हैं कि उच्च शिक्षा और पद पा जाने वाले लड़कों की दहेज मांग का कद उनकी शिक्षा और पद से अधिक ऊंचा होता जाता है। ऐसे लड़कों को पढ़ी-लिखी, लायक़ लड़की के साथ आधुनिकता से जुड़ी वे तमाम चीज़ें चाहिए जो उनकी ज़िंदगी को बेहद आरामदायक और सुचारू बना सकें। दहेज उनके लिए उनकी क़ाबलियत की क़ीमत और हक़ का रूप ले लेता है। और ऊंची से ऊंची क़ीमत पाने के लिए वे बिकने से परहेज़ नहीं करते। दहेज रूपी इस दानव से निपटने और इसके फलस्वरूप औरतों पर होने वाली हिंसा का मुंहतोड़ जवाब देना आज बेहद ज़रूरी हो गया है।

हमें यह समझना होगा कि हम दहेज देकर पराए घर नहीं जाएंगी। न ही हम अपने बेटों, भाइयों की शादी दहेज लेकर करेंगी। लड़कियों को अच्छी शिक्षा, हुनर और उनके पूरे विकास के साथ उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने को पूरा अवसर भी देना होगा। दहेज लेना और देना क़ानूनी जुर्म है। इसके लिए कठोर सज़ा भी सुनाई जाती है। इसलिए मां-बाप को चाहिए कि वे ऐसे रिश्तों का खुलकर विरोध करें। आज अगर दहेज देकर हम अपनी बेटियों की खुशहाली की गारंटी चाहते है तो यह सरासर ग़लत होगा क्योंकि दहेज मांगने वालों का लोभ बढ़ता ही जाता है। इसलिए ज़रूरत है इस कुप्रथा की सख़्त मुख़ालफ़त करने की।

दहेज के लिए लड़कियों को ज़िंदा जलाकर मार डालना एक चलन सा बन गया है। ज़रा सोचिए क्या आप चाहती हैं कि आप एक ऐसे माहौल में सांस लेने को मजबूर हों जहां आपको पल-पल अपनी ज़िंदगी ख़रीदनी पड़े। इसलिए अगर हम इस प्रथा को जड़ से मिटाना चाहते हैं तो हमें अपनी सोच, अपने सामाजिक रवैयों को कटघरे मे खड़ा करना होगा। दहेज न देने के साथ-साथ लड़कियों के लिए जायदाद में बराबर का हक़ मुहय्या कराना होगा जिससे ज़रूरत पड़ने पर वे अपनी ज़िंदगी की बागडोर अपने हाथों में थाम सकें। लड़कियों को सशक्त बनाइये। उनके हुनर विकसित करने में सहायता कीजिए। उनकी ज़िंदगी की

सुरक्षा के लिए उन्हें शोषण और हिंसा सहकर जीने का रास्ता मत दिखाइये। बल्कि अपने फ़ैसले लेने की क्षमता और उन पर अमल करने का हौसला दीजिए।

दहेज के नाम बलि चढ़ना औरत की मजबूरी नहीं है। शादी-ब्याह में सौदेबाज़ी नहीं, समता, प्यार और आदर चाहिए। परिवारों को स्वामी और मास्टर नहीं, साथी और हमसफ़र चाहिए। याद रखें रिश्ते वही फलते-फूलते और मज़बूत रहते हैं जो आपसी सम्मान, समता और प्यार की नींव पर बनाए गए हों। लालच, सौदेबाज़ी व मजबूरी पर टिके रिश्ते कभी जड़ नहीं पकड़ते।

दहेज विरोधी कानून 1961

- इस कानून के अनुसार दहेज का लेन-देन दोनों अपराध हैं। इसके लिए कम से कम पांच वर्ष क़ैद या कम से कम पंद्रह हज़ार रुपये जुर्माना किया जा सकता है। दहेज की मांग करने पर छः मास सज़ा और दस हज़ार रुपये तक का जुर्माना किया जा सकता है।
- यह क़ानून औरतों को पति या ससुराल वालों से सम्पत्ति/सामान लेने की सुविधा के लिए बनाया गया है। इसके तहत औरत के नाम पर शादी के समय दी गई सारी सम्पत्ति/दहेज शादी के बाद तीन माह के भीतर औरत के नाम कर दिया जाएगा। अगर इस सम्पत्ति/दहेज की मिल्कियत पाने से पहले औरत की मौत हो जाती है तो औरत के वारिस इस सम्पत्ति/दहेज को वापस लेने की मांग कर सकते हैं। अगर विवाह के सात साल के अंदर औरत की मौत हो जाती तो सारा दहेज उसके माता-पिता या बच्चों को दिया जायेगा।
- भारतीय दंड संहिता की धारा 304 बी-दहेज हत्या के मामलों में सज़ा के लिए लागू की जाती है। दहेज हत्या का अर्थ है, अगर औरत की मौत जलने या किसी शारीरिक चोट के कारणवश हुई है या शादी के सात साल के अन्दर किन्हीं संदेहास्पद कारणों से हुई है। यह धारा उस समय भी लागू की जा सकती है जब साबित हो जाए कि पति या औरत के कोई अन्य संबंधी दहेज के लिए उसके साथ हिंसा और बदसलूकी कर रहे थे जिसके कारणवश औरत की मौत हो गई हो।
- दहेज हत्या के लिए सात साल की सज़ा दी जा सकती है। इस जुर्म की ज़मानत नहीं की जा सकती। दोषी व्यक्ति पर धारा 304 बी के साथ साथ धारा 302 (हत्या) 306 (आत्महत्या के लिए उकसाना) 44ए (क्रूरता) और दहेज विरोधी कानून सेक्शन 4 लगाई जा सकती है।
- धारा 302-दहेज हत्या के आरोप में सज़ा के केस में लागू की जाती है जिसमें उम्र क़ैद या फांसी हो सकती है। भारतीय दंड संहिता की धारा 306 मानसिक और भावनात्मक हिंसा जिसके फलस्वरूप औरत आत्महत्या के लिए मजबूर हो गई हो के मामलों में लागू होती है। इसके तहत जुर्माना और 10 साल तक की सज़ा सुनाई जा सकती है।
- दफ़ा 498 ए-पति या रिश्तेदारों द्वारा दहेज के लालच में क्रूरता और हिंसा के लिए लागू की जाती है। यहां क्रूरता के मायने हैं औरत को आत्महत्या के लिए मजबूर करना, उसकी ज़िंदगी के लिए ख़तरा पैदा करना व दहेज के लिए सताना व हिंसा।
- इस सब कानूनों के अलावा धारा 113 ए, 174 (3) और धारा 176 भी दहेज व इससे जुड़ी हत्या के लिये उपयोगी हैं। इसके तहत दहेज हत्या की रिपोर्ट दर्ज होने पर आत्महत्या या मौत की दूसरी वजह होने के बावजूद पुलिस छान-बीन, कानूनी कार्यवाही, लाश का पोस्टमार्टम आदि करने के आदेश दे सकती है; ख़ासतौर पर जब मौत विवाह के सात वर्ष के अन्दर हुई हो या फिर किसी पर दहेज हत्या का संदेह हो।

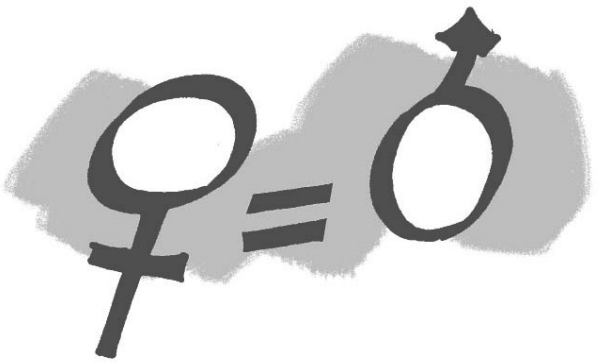

कानूनन हक़ है गुज़ारा भत्ता

कमलेश जैन

मेरठ की रजनी गरीबी से तंग आकर राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल से इच्छामृत्यु की इजाज़त मांग रही हैं। इस घटना के संदर्भ में हिंदू एडॉप्शन एंड मेंटेनेंस एक्ट 1956 को जानना ज़रूरी है। रजनी मेरठ के करोड़पति तिलकराज आनंद की पत्नी हैं, जिनकी शादी 35 साल पहले हुई थी। शादी के बाद रजनी को मायके से पैसे लाने के लिए तंग किया जाने लगा। इसके चलते रजनी के पिता ने अपने दामाद को कारोबार चलाने के लिए पांच लाख रुपये दिये। वक्त बीतने के साथ रजनी के पिता गरीब हो गए और उनका पति करोड़पति। शादी के एक साल बाद रजनी ने एक बेटे को जन्म दिया। इसके कुछ दिनों बाद तिलकराज का संबंध दूसरी स्त्री से हो गया और उसने पत्नी-बेटे को घर से बाहर कर दिया।

आज रजनी की उम्र 55 साल है और बेटा पंकज 34 साल का। मां-बेटा पंजाबी कॉलोनी स्थित दरगाह श्री हरश्रीनाथ जी महाराज के सामने पेड़ के नीचे चारपाई पर टॉफी-बिस्कुट बेचते हैं। कभी-कभी उनके पास इतने पैसे भी नहीं होते कि रात के खाने का बंदोबस्त किया जा सके। इन दोनों की यह हालत देखकर रजनी के पड़ोसी तिलकराज के पास गये और उनके भरण-पोषण की बात की। पोस्टकार्ड अभियान चलाकर भी रजनी के लिए मदद मांगी जा रही है। गरीबी और लाचारी से तंग आकर रजनी ने राष्ट्रपति से इच्छामृत्यु की अनुमति मांगी है।

लेकिन मैं रजनी और उनके जैसी तमाम दूसरी महिलाओं को बताना चाहती हूं कि उन्हें किसी से भीख लेने की ज़रूरत नहीं है। वह अपने इलाके की सत्र अदालत में स्थित फैमिली कोर्ट जाएं और *हिंदू एडॉप्शन एंड मेंटेनेंस एक्ट की धारा 18 एवं 23* के तहत अपने पति से गुज़ारा भत्ते की मांग करें। कानूनन वह भी उसी शाही तरीके से रह सकती है, जैसे उनका पति रहता है। मां-बेटा आराम से अलग रहकर भी खुशहाल ज़िंदगी जी सकते हैं। बेटा शादी कर सकता है और पुश्तैनी जायदाद में अपने हिस्से की मांग भी कर सकता है। इस संबंध में 'पॉपर' (कानून की दृष्टि में कंगाल) की हैसियत से केस भी फाइल किया जा सकता है। इसके साथ ही रजनी *अपराधिक प्रक्रिया संहिता धारा 125* के तहत नज़दीकी मैजिस्ट्रेट के यहां एकतरफा आंतरिक राहत भी ले सकती हैं। रजनी अपने पति के ख़िलाफ़ घरेलू हिंसा कानून के तहत फर्स्ट क्लास मैजिस्ट्रेट के पास अर्ज़ी दे सकती हैं। इसके ज़रिए उन्हें पति के घर में रहने या अलग किराये के मकान में रहने, चिकित्सा, खाना-पीना, स्त्रीधन, एकमुश्त गुज़ारा भत्ता, मुआवज़ा आदि सब कुछ मिल सकता है। रजनी अपने पति के साथ विवाहिता की तरह रह रही, दूसरी औरत के ख़िलाफ़ भी *भारतीय दंड संहिता की धारा 494* के तहत मुकदमा कर सकती हैं। इस मामले में सात साल तक की सज़ा का प्रावधान है। इस केस को लड़ने के लिए रजनी कोर्ट में अर्जी देकर लीगल एड भी ले सकती हैं, जिसमें किसी भी तरह का खर्च नहीं आएगा।

क्या हैं अधिकार?

- एक हिंदू स्त्री को अपने जीवनकाल में पति द्वारा भरण-पोषण का अधिकार है। यदि पति उसे छोड़ देता है तो वह उससे अलग रहकर भी गुज़ारा भत्ता पाने का हक़ रखती है। यदि पति उसके साथ शारीरिक या मानसिक बेरहमी करता है, दूसरा विवाह कर लेता है या उसने हिंदू धर्म त्याग दिया है, तब भी पत्नी उससे अलग रहकर गुज़ारा भत्ता पाने का हक़ रखती है। (धारा 18)
- पति के मर जाने पर विधवा बहू का पालन-पोषण ससुर करेगा। (धारा 19)
- एक हिंदू स्त्री या पुरुष का उत्तरदायित्व है कि वह अपने जीवनकाल मे अपने जायज़/नाजायज़ बच्चों और बूढ़े/लाचार माता-पिता का भरण-पोषण करे। (धारा 20)
- निर्भर व्यक्तियों से मतलब हैः माता-पिता, बेटा, अविवाहित एवं विधवा बेटी, नाबालिग नाजायज़ बेटा और अविवाहित नाजायज़ बेटी। (धारा 21)
- अगर किसी की मृत्यु हो गई है तो उसके वारिसों का फर्ज़ है कि वे मृतक पर निर्भर लोगों का पालन-पोषण उस जायदाद से करें, जो उन्होंने मृत व्यक्ति से विरासत में पाई है। (धारा 22)
- यह अदालत के विवेक पर निर्भर करता है कि वह भरण-पोषण के लिए कितनी रकम या संपत्ति तय करेगी। (धारा 23)

साभारः नवभारत टाइम्स

नया प्रकाशन

जागोरी नोटबुक 2009
औरत और श्रमः हक़ और सम्मान

जागोरी हाज़िर है नोटबुक 2009 के साथ जिसमें एक बार फिर हमने पिरोया है औरतों के संघर्ष, उनकी उपलब्धियों और अमूल्य अनुभवों को। नोटबुक निकालने के अपने पिछले बीस सालों के इतिहास में हमने एकल औरत, औरत और यौनिकता, ज़मीन के हक़ और किसान की पदवी, शरीर के हक़ और औरताना नज़रिए से नैतिकता की उधेड़बुन जैसे कई चुनौती भरे मुद्दों को रचनात्मक तरीके से उठाया है। इस बार हम औरतों के श्रम से जुड़े कुछ अहम सवालों, उनके गौरव, सम्मान और वैश्वीकरण के बदलते परिवेश में जीविका के घटते चुनावों, उनसे जूझने की ताकत को आपसे बांटने का प्रयास किया है।

क्या औरत के घर के कामों की भी कोई पहचान है? औरत जो घर में खाना पकाती है, बच्चों व बुजुर्गों की देखभाल करती है, लकड़ी पानी जुटाती है, इन कामों को समाज श्रम का दर्जा नहीं देता, सदियों की सामाजिक स्वीकृति स्वयं औरत को भी घर के काम को काम नहीं मानने देती। बावजूद इसके कि औरतों का योगदान परिवार चलाने के लिए महत्वपूर्ण है, ये सारे श्रम अदृश्य व मूल्यहीन हैं। पिछले कुछ दशकों में बाहर जाकर कमाने वाली औरतों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। ये संख्या वृद्धि ज़्यादातर अनौपचारिक सेक्टर में देखने को मिली है जहां सुविधाओं और सुरक्षा की हालत चिन्ताजनक है। इस सेक्टर में वेतन, काम का माहौल, घंटे, छुट्टी तथा नौकरी से निकालने के लिए कोई मानक तय नहीं है।

दूसरी ओर भूमण्डलीकरण और उदारवादी आर्थिक नीति विस्थापन और पलायन के लिए ज़िम्मेदार रही है, जहां एक ओर इससे कुछ स्थानों में रोज़गार के अवसर बढ़े हैं तो कई अन्य जगहों पर गरीबी और विलुप्त होते जीविका के साधन भयंकर परिणाम के रूप में भी सामने आए हैं। सस्ते और अनिश्चित श्रम के बढ़ते ढर्रे के कारण महिला मजदूरों की मांग बढ़ रही है। इस ताने–बाने में औरत बहुआयामी बोझ उठाने को विवश है। यह विवशता उन्हें विरोधी काम की परिस्थितियों की तरफ धकेलती हैं, काम की जगह पर उन्हें हिंसा और यौन हिंसा झेलनी पड़ती है।

पिछले कुछ सालों से जागोरी अनौपचारिक सेक्टर में काम करने वाली, खासकर अप्रवासी महिला मजदूरों के मुद्दों पर काम कर रही है। अब हम नोटबुक के माध्यम से भी औरत और काम के मुद्दे को टटोलना चाहते हैं। इस रचनात्मक यात्रा के दौरान अपने घर के काम, यौनकर्मी, कचरा चुनने वाली, घरेलू कामगार आदि औरतों ने हमारे साथ अपने अनुभव बांटें हैं। यह नोटबुक औरतों की आवाज़ को सब तक पहुंचाने, घर बाहर के औरत के काम को स्वीकृति दिलाने, औरत के सामाजिक दर्जे और सम्मान पर सवाल खड़े करने के साथ ही काम के स्थान पर जैंडर आधारित भेद–भाव पर बहस छेड़ती हैं।

आर्डर करने के लिए कृपया हमें लिखें
बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर,
नई दिल्ली-110017
production@jagori.org पर ईमेल करें
011-26691219 / 26691220 पर फोन करें
सहयोग राशिः 100/- रुपए

महिला अदालत

जन सुनवाई न सिर्फ़ एक सशक्त माध्यम है राजनैतिक संरचनाओं व जनता से जवाबदेही मांगने का बल्कि एक ऐसी जगह और माहौल तैयार करने का जिसमें औरतें अपने व्यक्तिगत दर्द और उत्पीड़न पर मरहम लगाकर न्याय के सामूहिक तरीकों की खोज कर सकें। हमारा मानना है कि व्यक्तिगत राजनैतिक होता है। जन सुनवाई एक नारीवादी प्रक्रिया भी है जो 'व्यक्तिगत' को 'राजनैतिक' बनाने में मदद करती है। औरतों से जुड़ी हर चीज़ फिर चाहे वह हिंसा हो या ज्ञान उसे व्यक्तिगत और घरेलू दायरों में कैद कर दिया जाता रहा है। ऐसा करने से 'व्यक्तिगत' समझा जाने वाला कोई भी संघर्ष या चुनौती 'राजनैतिक' या सार्वजनिक को बदलने की क्षमता खो देती है। जन सुनवाइयों के माध्यम से हम इसी व्यक्तिगत के परिवर्तनशील स्वभाव को खोजने की कोशिश करते हैं।

महिलाओं के ख़िलाफ़ हिंसा के काम में तीन स्तरों पर जनसुनवाई का आयोजन किया जाता है।

- व्यक्तिगत औरतों के साथ अपने रोज़मर्रा के काम के स्तर पर
- नीति व कानूनों में बदलाव अभियानों के स्तर पर
- नई राजनैतिक जगह व न्याय और बदलाव के वैकल्पिक तरीके खोजने के लिए विश्व स्तर पर

सत्ताहीनों के बीच सच बोलना

इस स्तर पर जन सुनवाई में सत्ताहीनों के बीच सच्चाई को उजागर किया जाता है। इसमें जनता के रूप में उन औरतों की मौजूदगी होती है जो उसी प्रकार के दर्द व तकलीफ़ों से गुज़री हों। अपने व्यक्तिगत दर्द की बातें एक दूसरे के साथ करने से एक साझेपन का एहसास होता है और एक दूसरे की हिम्मत और सशक्तता से प्रेरणा मिलती है।

सत्ताधारियों के समक्ष सच बोलना

इन जन सुनवाईयों में नागरिक समाज के लोगों के अलावा उन सभी को बुलाया जाता है जो सत्ताधारी हैं और उनसे जवाबदेही मांगी जाती है। इस प्रक्रिया से हम राज्य के सामने एक सामूहिक रूप से समस्या या उत्पीड़न के मामले प्रस्तुत करते हैं और यह भी बताते हैं कि सत्ताधारी किस प्रकार लोगों के मानव अधिकारों का हनन करते हैं। इससे जांच के तरीकों और भ्रष्ट अफ्सरों को जनता के समाने लाने का मौका मिलता हैं

महिलाओं की अदालत-न्याय पाने का नया तरीका

क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला अदालतें न्याय और अधिकारों की औरतों की नज़र से समीक्षा करती हैं। प्रक्रियाओं, कानून और न्याय में मौजूद त्रुटियों का इन अदालतों में विश्लेषण किया जाता है। इस अदालत में पीड़ित औरतें अपनी बात रखती हैं और राज्य से न्याय और जवाबदेही मांगती हैं। यह एक ऐसी जगह है जहां न्याय पाने का अर्थ बदला लेना नहीं बल्कि सच और सहयोग के माध्यम से खुद अपने घावों पर मरहम लगाना है।

इन जन सुनवाइयों व महिला अदालतों में एक ऐसी सामूहिक-राजनैतिक जगह तैयार होती है जहां मुद्दों को सम्बोधित करने के रचनात्मक और नए तरीके ईजाद किये जाते हैं। इसी क्रम में *विमोचना, बंगलौर एशियन विमेंस ह्यूमन राइट्स काउंसिल* व भारत के अन्य महिला संगठन जून 2009 में राष्ट्रीय स्तर पर औरतों की अदालत का आयोजन कर रहे हैं जिसका विषय है ***दहेज व इससे जुड़े महिला हिंसा के अन्य रूप।***

इस अदालत में निम्न पर चर्चा की जाएगी-

- दहेज हिंसा जिसे आम, नार्मल व अदृश्य करार दिया गया है।
- मौजूदा संदर्भ में दहेज पर समझ बनाना व हिंसा के अन्य रूपों से इसके संबंध को समझकर हिंसा की संस्कृति, भौगोलीकरण व विकास की समीक्षा करना।
- न्याय की प्रक्रियाओं व तरीकों की समीक्षा।

इस अदालत की तैयारी के लिए पूरे साल राज्य स्तर पर जन सुनवाई, कार्यशालाएं, चर्चा, गोष्ठियां आयोजित की जा रही हैं जिनका निष्कर्ष इस राष्ट्रीय अदालत में प्रस्तुत किया जाएगा। इस महिला अदालत में कार्यकर्त्ता, अकादमिक कलाकार, नागरिक समाज के सदस्य, नीति निर्माता, वकील और अन्य लोग भाग लेगें।

अन्य जानकारी के लिए सम्पर्क करें
विमोचना, बंगलौर • vimochana76@gmail.com

महिला हिंसा के ख़िलाफ़ सामुदायिक अगुवाई

पिछले तीस सालों में महिला आन्दोलन की अगुवाई में दहेज के मुद्दे पर बहुत से अभियान चलाये गए, कानूनों में संशोधन हुए, महिलाओं व परिवारों को न्याय दिलाने के संघर्ष चले परन्तु आज भी दहेज विकराल रूपों में हमारे समाज में मौजूद है और समाज का लगभग हर तबका दहेज के लेन-देन में शामिल है। पूरे हिन्दुस्तान में जितने पुराने हमारे रीति-रिवाज हैं उतनी ही पुरानी है दहेज के रूप में होने वाली महिला हिंसा। वैश्वीकरण के बदलते परिवेश में इसका स्वरुप निरन्तर बदल रहा है। स्थिति की गंभीरता लड़कियों की घटती संख्या के आंकड़ों के रूप में देखी जा सकती है। आज के दौर में बालिका भ्रूण हत्या की सबसे बड़ी वज़ह दहेज मानी जा रही है।

पृष्ठभूमि

हमारे समाज के अनुसार दहेज वो है जो मांगा जाये, जो परिवार स्वेच्छा से अपनी बेटी को देना चाहे दें। पर सवाल यह है कि यह स्वेच्छा की बाध्यता लड़की के परिवार में ही पैदा क्यों हो? क्यों हमारा परिवार, समाज व कानून औरत को बराबरी का हक़ नही देता है? क्यों हम इस लेन-देन को खत्म नहीं करते और अधिकार से कहते हैं कि हम अपनी बेटियों को दहेज नही देगें पर सम्पत्ति में बराबर का अधिकार देगें।

आंकड़े दहेज के दो खास पक्षों को दर्शाते हैं— **दहेज हत्या** व **दहेज उत्पीड़न**। अभी तक के दहेज विरोधी आंकड़े निम्न हैं

सन्	वारदातों के आंकड़े
2002	2816
2003	2684
2004	3592
2005	3204
2006	4504

सभी फोटो: जागोरी

जनसुनवाई

इस मुद्दे पर खुली चर्चा करने की ज़रूरत है क्योंकि वैचारिक रूप से बदलाव न आने के कारण कानूनों का भी सही इस्तेमाल नहीं हो पा रहा है। इसलिए *जागोरी* की ओर से महिला अदालत के रूप में हम इस चर्चा की शुरूआत कर रहे हैं जहां हमारा प्रयास है उन जुझारू महिलाओं से समाज का परिचय कराना जो अपनी हिंसा के संघर्ष को हमारे साथ बांटने को तैयार हैं। इस अदालत में कोई जज या वकील नहीं होंगे। यह हमारी औरतों की अदालत है। यहां हम खुद अपने आप को तोलेंगे अपनी बात कहेंगे और अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए फैसले करेंगे।

सांप-सीढ़ी का खेल

जागोरी की पहल

पिछले दो दशकों से भी ज़्यादा समय से *जागोरी* महिला हिंसा के मुद्दे पर संयोजित तरीके से काम कर रही है। *महिला हिंसा के विरोध में अंतर्राष्ट्रीय पखवाड़ा* जो 25 नवम्बर से 10 दिसम्बर तक चलाया जाता है के दौरान हमने महिला हिंसा के एक गंभीर रूप 'दहेज' पर समुदाय व नागरिक समाज के बीच इस मुद्दे की संगीनता पर गौर करने के लिए एक सार्वजनिक कार्यक्रम का आयोजन किया।

यह कार्यक्रम दिल्ली की एक पुनर्वास बस्ती, मदनपुर खादर में आयोजित किया गया। इस सार्वजनिक महिला अदालत का मकसद था दहेज की समस्या, जिसे अदृश्य व नार्मल समझा जाने लगा है को जनता के मानस में दोबारा ताज़ा करना, इसके मायने और बदलते स्वरूपों का विश्लेषण करना। साथ ही औरतों द्वारा दहेज हिंसा व इसकी प्रथा से जूझने के संघर्ष को वैधता प्रदान करना।

इस पूरी प्रक्रिया में अधिक लोग शामिल हो सकें इसे ध्यान में रखकर इस कार्यक्रम को एक मेले के रूप में आयोजित किया गया था। लगभग ढ़ाई हज़ार पर्चियां जनता में बांटी गई जिसकी ज़िम्मेदारी महिला समूह, शक्ति समूह, जिज्ञासा समूह व युवा लड़कों ने उठाई। कार्यक्रम की शुरूआत महिला आंदोलन से जुड़े जोशीले गीतों से की गई।

कार्यक्रम के अन्य आकर्षण थे:

- पोस्टर और लेखों का प्रदर्शन जिसमें युवा लड़कियां व लड़कों ने दहेज पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति की।
- सांप-सीढ़ी खेल के ज़रिए दहेज से जुड़े प्रश्नों पर आम लोगों के साथ चर्चाएं की गईं।
- दहेज प्रतिरोधक वार्ता में मेले में आए लोगों को, दहेज पर विचार व्यक्त करने के लिए मंच प्रदान किया गया। काफी वक्ताओं ने खुलकर दहेज की मुखालफ़त की व इसे प्रथा को खत्म करने की मांग रखी। पर कुछ लोगों का यह भी मत था कि इससे लड़कियों को सुरक्षा मिलती है।
- शक्ति समूह की किशोरियों ने *दहेज एक अभिशाप* नुक्कड़ नाटक का मंचन किया।
- जन सुनवाई में महिलाओं ने दहेज से जुड़े अपने अनुभव व हिंसा के ब्योरे 'पेनल' के समक्ष प्रस्तुत किए। औरतों के साझे अनुभवों ने उन्हें एक दूसरे से जोड़ा व हिम्मत प्रदान की।

कार्यक्रम के अंत में मौजूद सभी लोगों ने दहेज के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने की वचनवद्धता को दोहराया। आकाश में रंग-बिरंगे गुब्बारे जिन पर दहेज विरोधी संदेश लिखे थे, छोड़कर कार्यक्रम का समापन किया गया।

जागोरी के साथ इस कार्यक्रम में मोबाइल क्रेश, इफरा, कास्प व मदनपुर खादर में काम कर रहे अन्य संगठन के सदस्यों ने भी हिस्सा लिया।

मां-बाप समझ जाएं कि दहेज क्या है

सांवरा

जब मैंने अपनी बेटी का रिश्ता तय किया तो एक रुपया मेहर देकर लड़के वालों ने बात पक्की कर ली। पर निकाह से एक हफ्ते पहले लड़के का पिता व चाचा हमारे घर आए। उन्होंने कहा कि हमें मोटर साइकिल और गैस चाहिए क्योंकि आपकी बेटी चूल्हे पर रोटी नहीं बनाना जानती है। मैंने शादी के कार्ड छपवा लिए थे इसलिए कहा कि आप मुझे एक लिस्ट बनाकर दें तो मैं कोशिश करूंगी उसे पूरा करने की। उन्होंने मेरे हाथ में एक लम्बी फेरहिस्त थमा दी। फिर मैंने कहा कि इतना देने की गुजांइश नहीं है। आप मेरे घर से जा सकते हो। लड़के के पिता ने कहा कि हमने अपने बेटे की पढ़ाई पर बहुत पैसा लगाया है वो तो हमें चाहिए ही। मैंने कहा मेरी बेटी ने भी स्कूल में पढ़ाई की है, वो क्या मुफ्त थी? उन्होंने कहा कि आप के शादी के कार्ड छप गये हैं, आप सोच लो। पर मैंने हिम्मत नहीं छोड़ी, कहा कोई बात नहीं, मैंने कार्ड छपाने के एक हज़ार रुपये खर्च किए है। मना करने में एक हज़ार और लगा दूंगी। यह मेरी नाक का सवाल है, मुझे यहां निकाह नहीं करना है। वे लोग घबरा गये बोले, निकाह तो करना ही पड़ेगा। अगर आपकी नाक का सवाल है तो मेरी भी मूंछों की आन है। चाहे आप कुछ न देना पर शादी तो करनी ही पड़ेगी। हम आपसे गलती की माफी मांगते हैं। मैं आखिर मां थी, अपनी बेटी की खुशी चाहती थी। यह भी चाहती थी कि बेटी को कोई दुःख-तकलीफ न हो। मैंने जिस बेटी को पाल-पोसकर बड़ा किया था उससे कैसे सिर्फ़ थोड़ा सा दहेज देकर पीछा छुड़ा लेती मैं। आज मेरी बेटी खुश है। मैंने तय किया कि मैं अपनी बेटी को सम्पत्ति का अधिकार दूंगी।

निकाह से पहले मैंने अपनी बेटी को निकाहनामे का भी सही अर्थ बताया। इस्लाम के अनुसार निकाह दो लोगों के बीच एक अनुबंध होता है जिसमें कोई भी धार्मिक रीति-रिवाज नहीं होता। इस अनुबंध में लड़का या लड़की कोई शर्त रख सकते हैं। फिर चाहे पारिवारिक ज़िम्मेदारियों को आधा-आधा निभाने की शर्त रखी जाए या फिर पति को एक ही पत्नी रखने की, सभी का पालन किया जाना ज़रूरी होगा। निकाह के समय मेहर की रकम तय करना भी इस्लाम के अनुसार आवश्यक होता है। और इसे अदा करना ज़रूरी होता है। मेहर औरत को तलाक देने पर अदा की जाने वाली रकम या फिर कोई मुआवज़ा नहीं होता। यह शादी के समय ही दिया जाना चाहिए। पर अक्सर देखा गया है कि कुरान की इस हिदायत का पालन नहीं दिया जाता। धर्म के ठेकेदारों ने निकाह, मेहर आदि रिवाजों को अपने फायदे के अनुसार ढाल लिया है जिसमें औरत के अधिकारों को नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।

अक्सर मां-बाप दहेज देकर अपनी बेटी से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। दहेज मां-बाप व ससुराल वाले दोनों के लिए नाक और मूंछ का सवाल बन जाता है। पर सब यह भूल जाते हैं कि दहेज का लालच कभी खत्म नहीं होता। ये पूरी जिंदगी का किस्सा है, पहले निकाह, फिर तीज-त्योहार फिर बच्चे पैदा होने पर छूछक और न जाने क्या-क्या। पीछा कहां छूटता है। इसलिए हम अगर दहेज न दें और बेटियों को सम्पत्ति में हिस्सा दें तो वह उनके लिए ज़्यादा फायदेमंद रहेगा। ससुराल में कोई तकलीफ होने पर लड़की को मायके आकर नहीं रहना पड़ेगा। मायके वाले भी विवाहित लड़की को अपने घर में रखना बोझ समझते हैं। बेटी के पास अपनी जायदाद होती है तो वह अपना गुज़ारा अपने आप चला सकती है। यही सब सोचकर मैंने उसे जायदाद में हक़ देने का फैसला लिया है।

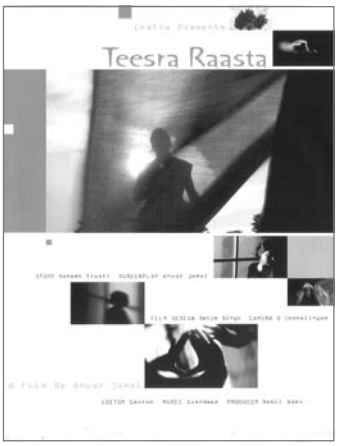

तीसरा रास्ता

जुही जैन

निर्देशक : अनवर जमाल
भाषा : हिन्दी, अंग्रेज़ी सबटाईटिल के साथ
अवधि : 37 मिनट

दहेज व दहेज हत्या महिला आंदोलन के लिए एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा है। इस मुद्दे पर काफ़ी वृतचित्र व कुछ मुख्यधारा फ़िल्में भी बनाई गई हैं। सभी फ़िल्में हमें इस सामाजिक अपराध की भयावह सच्चाई से रूबरू कराती हैं और इसे जड़ से समाप्त करने की दिशा में काम करने के लिए प्रेरित करती हैं। औरत की मजबूरी, शादी की चारदीवारी में घुटन व तन्हाई, बोझ होने का एहसास व दहेज की बढ़ती मांगे व उनको पूरा करने के लिए किए गये समझौते— इन सभी से हम भली-भांति वाकिफ़ हैं। पर इस चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए तदबीरें और रास्ते अक्सर हमें नहीं सूझते। निर्देशक अनवर जमाल ने अपनी फ़िल्म *तीसरा रास्ता* में हमें इसी तीसरे रास्ते से परिचित कराने का प्रयास किया है।

फ़िल्म की कहानी कुछ इस प्रकार है। इक्कीस वर्ष की एक युवती, किरण के मध्यमवर्गीय माता-पिता उसके लिए योग्य वर की तलाश में हैं। घर में लाड़ के साथ अपना बचपन गुज़ारती किरण अपनी मां से सुघड़, आज्ञाकारी बहू बनने के तमाम गुर सीख रही है। खाना बनाना, कपड़े सुखाना, ज़ोर से न हंसना और सर झुकाकर ससुराल में रहने का प्रशिक्षण उसे शादी के लिए तैयार कर रहा है। एक अखबार में इश्तिहार के ज़रिए पढ़े-लिखे, नौकरीपेशा परिवार में रिश्ता तय होता है और शादी भी हो जाती है। ससुराल पक्ष से दहेज की कोई लम्बी सूची नहीं आती सिर्फ़ ससुर जी समधी को एक वाक्य की हिदायत देते हैं— "जो कुछ देना है अपनी बेटी को दीजिए, कैश।"

शादी के बाद एक सुघड़ गृहिणी की भूमिका में सटीक बैठने के बावजूद किरण से ससुराल वाले नाखुश हैं। बात-बात पर ताने, अपमान व अकेलापन झेलती वह अपने पीहर वापस लौट आती है। मायके में भी उसे निरन्तर अकेलापन और बेरूखी सहनी पड़ती है जिससे उसे बहुत तकलीफ़ होती है।

फ़िल्म के अंत में किरण एक दृढ़ निश्चय करती है। वह न तो ससुराल वालों के हाथों मौत चाहती, है न ही मायके की कैद। वह जीना चाहती है और तीसरा रास्ता अपनाती है- अपने वजूद की तलाश और अपनी ज़िंदगी अपनी शर्तो पर अपनी तरह जीने का इरादा बनाकर।

इस फ़िल्म के माध्यम से निर्देशक ने लड़कियों व औरतों के निरन्तर घटते दर्जे को चित्रित किया है। आधुनिक समाज में दहेज की बढ़ती मांगे औरत के कमतर दर्जे व उसके श्रम की कीमत की नज़रअंदाज़ी के सूचक हैं। बेटों की चाह, उपभोक्तावाद, लालच, नैतिक मूल्यों का पतन समाज में दहेज प्रथा को बढ़ावा देता है।

इस फ़िल्म में निर्देशक ने दहेज की गूढ़ चाहत को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है जो विभिन्न रूपों में उजागर होती है और मानवीय मानस को अपनी गिरफ़्त में बांध लेती है।

फ़िल्म की ख़ासियत है इसका कथा-वाचन। एक आम-रोज़मर्रा की घटना को सीधे-साधे तरीके से बयान किया गया है। पर फिर भी इस कथा की चोट सीधे दर्शक के दिल पर आकर प्रहार करती है। फ़िल्म देखते समय आप इस लड़की की घुटन, मजबूरी और अकेलेपन को महसूस कर सकते हैं जो हमें झकझोर देता है और दर्शक खुद को उस किरदार की जगह पाता है। निर्देशक का मकसद शायद यही था कि दर्शक इस फ़िल्म को अपनी ज़िंदगी से जोड़ पाएं और ऐसा करने में फ़िल्म कामयाब रही है।

निर्देशक ने इस फ़िल्म में कुछ विशेष मूलभावों का उपयोग किया है जो इस पूरी कहानी को समझ के ऊपरी धरातल तक ले जाते हैं। मसलन एक पूरी तरह ढकी, गठरीनुमा औरत जो सड़क किनारे बैठकर भीख मांगती है और जिसके शरीर का सिर्फ़ एक अंग, उसका मांगने के लिए बढ़ा हाथ, दिखाई देता है। पूरी फ़िल्म के दौरान यह चित्र दर्शकों के विचारों में कौंधता रहता है।

फ़िल्म में एक दृश्य में कुछ औरतें सर से पांव तक ढकी हुई एक घेरे में बैठी हैं जिसके बीच में किरण खड़ी है—यह दृश्य प्रतीक है औरत की घुटन व उसके अस्तित्व को नकारने का। निर्देशक के अनुसार, *"सड़क पर हम ऐसी न जाने कितनी महिलाएं रोज़ाना देखते हैं। क्या पता इन नकाबों से ढके जिस्मों के पीछे का सच क्या है? या कितने दहेज के मामलों में जले हुए चेहरे व शरीर इन चादरों की परतों तले छिपे हों।"*

फ़िल्म की पृष्ठभूमि में कबीर के दोहे व सविता सिंह की कविता को इस्तेमाल किया गया है। तेरहवीं सदी के कवि की सशक्त रचना को आज के दौर की सच्चाई बयान करने के लिए कलात्मक रूप से अपनाया गया है।

फ़िल्म की पटकथा, राकेश तिवारी की कहानी *तीसरा रास्ता* व शोध, एकत्र संगठन के काम पर आधारित है। निर्देशक अनवर जमाल कहते हैं *'दहेज भारतीय समाज की एक भीषण समस्या है पर मेरे ज़ेहन में निशा शर्मा का वाकया छाया है। याद रहे कि कुछ वर्ष पूर्व निशा ने दहेज मांगे जाने पर विवाह के लिए इंकार कर दिया था। तब से निशा दहेज विरोध की मिसाल समझी जाती हैं।'*

पर अनवर जमाल कहते हैं, 'यकीनन निशा ने ब्याह से इंकार कर दिया क्योंकि दहेज की मांग बढ़ रही थी। पर इस घटना का एक अहम पहलू और भी है। उसके पता ने निशा के ब्याह के लिए काफी दहेज एकत्रित किया था। अगर वर पक्ष को यह दहेज काफी लगता तो यह विवाह सम्पन्न हो जाता और किसी को इस बात की कानो-कान खबर नहीं होती। मेरा गुस्सा इसी बात पर केंद्रित है- समाज का काफी बड़ा वर्ग दहेज की प्रथा को निभाता चला जा रहा है, बिना शर्मिंदगी या अपराध भाव के, बिल्कुल ऐसे जैसे यह कोई पावन सामाजिक परम्परा हो।' निर्देशक ने अपनी फ़िल्म में इसी रोष, इसी गुस्से को व्यक्त किया है।

वे यह भी मानते हैं कि *'मां, सास और न जाने कितनी ही महिलाएं दहेज प्रथा को बरकरार रखने में सहायक होती हैं। बेटों की ख्वाहिश व बेटियों को बोझ समझने की मानसिक पितृसत्ता इस सामाजिक अपराध के पीछे काम करती है। जब तक मानसिक रवैये नहीं बदलेंगे हम इस समस्या को जड़ से मिटाने में कामयाब नहीं हो पाएंगे।'*

कुल मिलाकर महिला हिंसा व दहेज के सच को उजागर करने के लिए इस फ़िल्म को एक सराहनीय प्रयास माना जा सकता है। फ़िल्म खौफ़नाक, घिसे-पिटे, हिंसा दर्शाते दृश्यों व नाटकीयता से परे रहकर एक संवेदनशील सकारात्मक नज़रिये के साथ हमें दहेज समस्या से निजात पाने के लिए उकसाती है।

इसे कार्यकत्ताओं, विद्यार्थियों व प्रशिक्षण कार्यक्रमों में चर्चा की शुरूआत करने के लिए उपयोगी तरीके से इस्तेमाल में लाया जा सकता है। फ़िल्म अंत में कोई कार्यकारी, योजनाबद्ध रास्ता या दलील पेश नहीं करती—यही इसकी सशक्तता है क्योंकि देखने वाले खुद अपने आप तय कर सकते हैं कि जीने के लिए उनका *तीसरा रास्ता* क्या होगा।

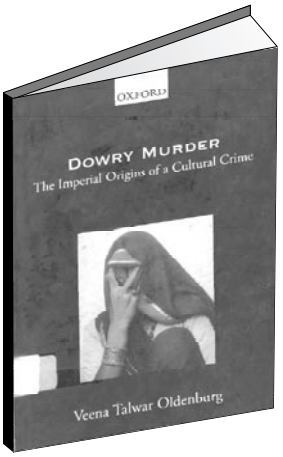

डाउरी मर्डर:
द इम्पीरियल ऑरिजिन्स ऑफ़ ए कल्चरल क्राइम
वीना तलवार-ओल्डिनबर्ग

प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
पृष्ठ : 261
भाषा : अंग्रेज़ी
मूल्य : 595/-

दहेज का सामाजिक रिवाज औरतों व लड़कियों पर हिंसा का एक मुख्य कारण माना जाता रहा है। पैदा होते ही लड़कियों के विवाह के लिए दहेज का समान जुटाना और विवाह के समय अपनी हैसियत से ज़्यादा दहेज देकर बेटियों की सुरक्षा खरीदने की चाल ने इस परम्परा को एक अभिशाप बना दिया है। अधिक से अधिक दहेज पाने की ख्वाहिश व लालच के कारण औरतों को ससुराल में हिंसा के विभिन्न रूपों को सहना पड़ता है। और अक्सर दहेज की मागें पूरी न होने पर ससुराल में लड़कियों की दुर्घटनावश मृत्यु हो जाती है।

जानी मानी नारीवादी इतिहासकार वीना तलवार-ओल्डिनवर्ग अपनी पुस्तक *डाउरी मर्डर द इम्पीरियल ऑरिजिन्स ऑफ़ अ कल्चरल क्राइम* में औरतों के ऊपर हिंसा व उनकी मृत्यु के लिए दहेज को ज़िम्मेदार नहीं मानतीं। लेखिका के विचार में इन मौतों का कारण न तो दहेज है और न ही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराएं या जाति प्रथा जो औरतों पर हिंसा को वैधता प्रदान करती हैं। बल्कि इन तमाम हत्याओं को अंग्रेज़ी उपनिवेशी काल का सीधा प्रभाव माना जा सकता है।

उनके अनुसार पूर्व उपनिवेशवाद के दौर में दहेज एक ऐसी सामाजिक संस्था थी जिसे औरतों द्वारा औरतों के लिए पूरी तरह निर्धारित किया गया था जिससे वे इसके ज़रिए अपना सामाजिक दर्जा मज़बूत कर सकें तथा कोई भी आपातकालीन स्थिति होने पर इसका उपयोग अपने हित के लिए कर सकें। अंग्रेज़ी शासनकाल के कारण समाज में आई तीव्र आर्थिक व सामाजिक उथल पुथल ने औरतों के इस हक़ को छीन लिया। अब भूमि व संसाधनों पर पूरी तरह पुरुषों की मिल्कियत मानी जाने लगी जिसके चलते औरतें का दर्जा कमतर और दोयम हो गया। लेखिका का मानना है कि अंग्रेज़ों ने अपनी विध्वंसक कृषि नीतियों से होने वाली तबाही का सारा दोष हिन्दू संस्कृति, जाति प्रथा व सामाजिक रिवाजों के मत्थे मढ़ दिया। अपने सम्य समाज की स्थापना के मिशन के चलते आर्थिक-सामाजिक नीतियों का हानिकारण प्रभाव औरतों को झेलना पड़ा।

इस पुस्तक में लेखिका ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि किस तरह औरतों का रक्षा कवच धीरे-धीरे उनके लिए फांसी के फंदे में तब्दील होता चला गया। लेखिका ने पुस्तक में अपनी बात को अस्सी के दशक के मध्य में दिल्ली के एक महिला समूहों के साथ अपने एक वर्ष के ज़मीनी अनुभवों के साथ पुख्ता किया है।

दहेज हत्याओं, दहेज मांगों व औरतों के साथ हिंसा के मामलों से जूझते हुए लेखिका ने आधुनिक समाज में औरतों व लड़कियों के साथ होने वाली नाइंसाफ़ियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इस पुस्तक के ज़रिए वे पाठकों को महिलाओं के मानव व आर्थिक अधिकारों से जुड़ी भूल मान्यतों को चुनौती देती हैं। यह पुस्तक उपनिवेशवाद की आलोचना करने के साथ-साथ आधुनिक भारत में लैंगिक भेदभाव की सच्चाई को भी प्रतिबिम्बित करती है।

अपनी उकसाने वाली दलीलों में लेखिका बार-बार एक ही बात दोहराती हैं- दहेज औरतों के लिए एक स्त्रीधन या सम्पत्ति कोष की तरह होता था। इसे महिलाएं अपने गहनों सामान और घरेलू संसाधनों के ज़रिए इकट्ठा करती

थीं। चूंकि भूमि और घरेलू संसाधनों में आपसी जुड़ाव था इसलिए जायदाद पर स्त्री-पुरुष दोनों का साझा नियंत्रण था।

उपनिवेशी नीतियों को अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए भारतीय आर्थिक रीढ़ को तोड़ना ज़रूरी था। लिहाज़ा दहेज की बढ़ती रकम, दहेज न देने की सूरत में लड़कियों की भ्रूण-हत्या, शादी के खर्चों में कमी करने के प्रयासों के लिए दहेज व हिन्दू संस्कृति को दोषी ठहराया गया।

पुस्तक में प्रस्तुत सभी दावों को चाहे पाठक न माने पर इस सच को नहीं नकारा जा सकता कि लेखिका ने दहेज हत्या के मुद्दे की जटिलताओं को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। साथ ही महिला हिंसा, कन्या भ्रूण हत्या, दहेज हत्या, घरेलू हिंसा के कारणों को सामाजिक आर्थिक राजनैतिक ढांचे के अंतर्संबंधों में समझने का यह सराहनीय प्रयास माना जा सकता है।

वैवाहिक समस्याओं के वर्णन, सटीक, सच्चे व दिल दहलाने वाले हैं जो पाठकों को एक झकझोरते हैं तथा समाज में लैंगिक असमानताओं पर पुनर्विचार करने को प्रेरित करते हैं।

इस पुस्तक में परिचय और उपसंहार के साथ-साथ छः पाठ हैं जो इस विषय के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं। पाठ एक, समस्या व संदर्भ, में दहेज का अर्थ तथा हिंसा के साथ संबंध का ऐतिहासिक नज़रिए से विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पाठ दो व तीन में, बालिका शिशु हत्या तथा दहेज रूपी सुरक्षा के गले के फंदे में परिवर्तन की समीक्षा है। साथ ही विवाह के बढ़ते व्यय को 'फिज़ूल का सामाजिक खर्चा' करार देने की उपनिवेशी चालों से समाज में आए गुणात्मक बदलावों की भी चर्चा की गई है।

पाठ चार में, उपनिवेशवाद के नतीजतन 'मर्दानी' अर्थव्यवस्था तथा उसके आर्थिक, सामाजिक प्रभावों, जेंडर व सत्ता संबंध तथा कृषक व भूमि के रिश्तों मे मूल परिवर्तन के अहम पहलुओं पर गौर किया गया है। बेटों की चाह और औरतों व लड़कियों को लेकर पूर्वग्रहों का पाठ पांच में विस्तार से उल्लेख किया गया है। अंतिम पाठ में दहेज की ऐतिहासिक शोध को मौजूदा सच्चाइयों के साथ जोड़कर दहेज व दहेज हत्या पर समझ बनाने का प्रयास दिखाई देता है।

अकादमिक चिंतनशात्रियों व शोध अध्ययन करने वालों के लिए यह पुस्तक एक विद्वत्तापूर्ण संदर्भ सामग्री है। यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में किए गए शोध का सारांश है- 'सांस्कृतिक अपराध' साम्राज्यवाद की सूत्रवद्ध शिल्पकारी है। महिलाओं के साथ हिंसा एक व्यापक, कालातीत सच्चाई है पर इससे निपटने के लिए लिंग व जेंडर पर आधारित आर्थिक-सामाजिक असमनताओं को जड़ से दूर करने के प्रयास करने होगें। संस्कृति फिर इन नए बदलावों के साथ खुद-ब-खुद तालमेल स्थापित कर लेती है। भारत जैसे आधुनिक धर्म निरपेक्ष, प्रजातंत्र का यह दायित्व बनता है कि वह इन असमानताओं को समाप्त करने के लिए ठोस कदम उठाए।

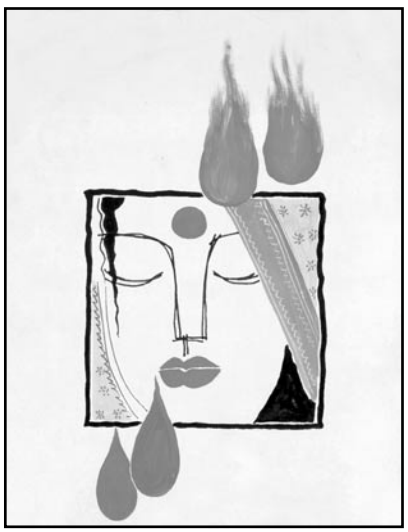

साभार: पोस्टर, विमेन ए विक्टिम हिस्ट्री ऑफ़ विमेंस मूवमेंट इन इण्डिया, जुबान प्रकाशन

जागोरी प्रकाशन

किशोरियों की शिक्षा और उनके जीवन में सुधार जिससे वे फले-फूलें और आगे बढ़े। इसी सोच को लेकर जागोरी ने ये चार पोस्टरों का सेट तैयार किया है। रंग-बिरंगे, तीन भाषाओं के ये पोस्टर स्कूलों, कार्यशालाओं और प्रशिक्षणों में उपयोगी साबित होंगे।

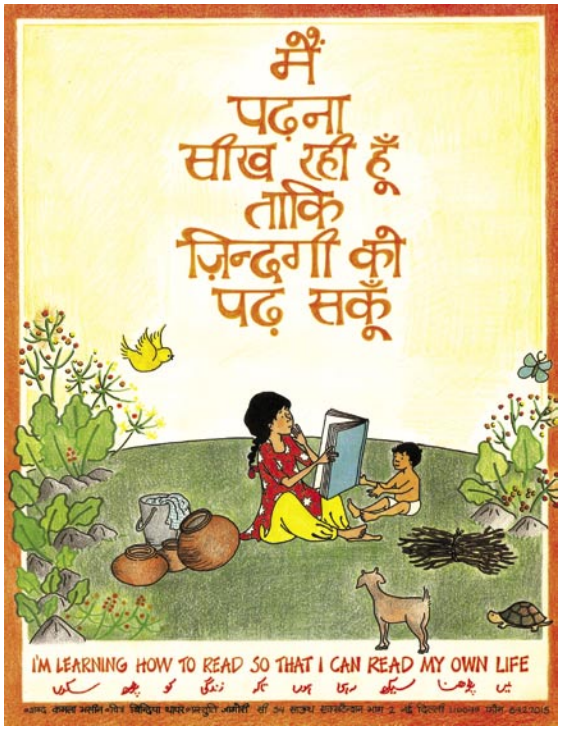

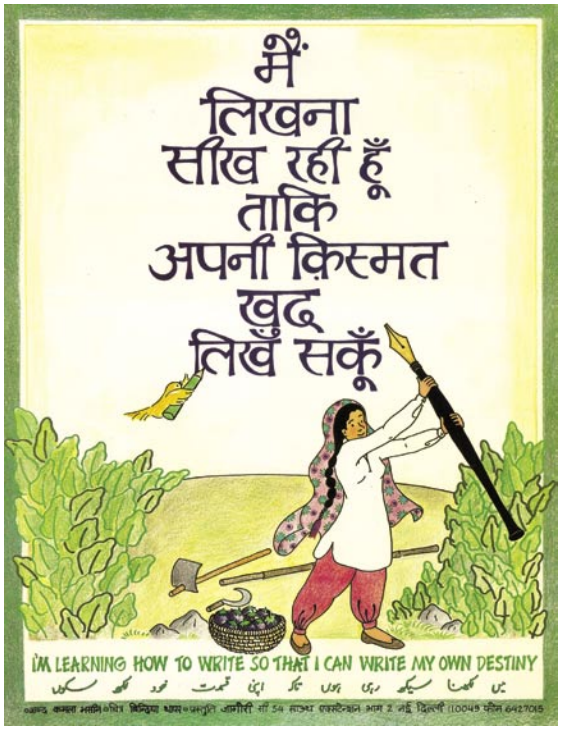

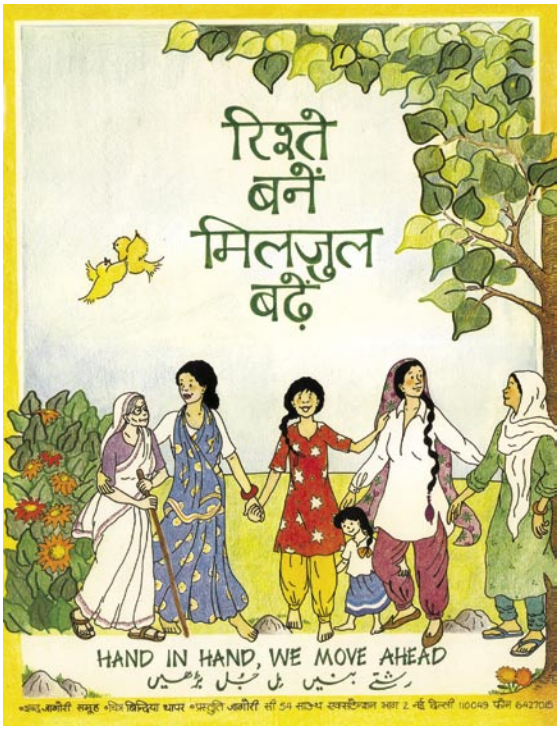

प्रतियां मंगवाने के लिए संपर्क करें:

महाबीर सिंह, जागोरी

दूरभाष: 011-26691219/20 email: distribution@jagori.org

बी 114 शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017
दूरभाष 26691219, 26691220
ई-मेल jagori@jagori.org
वेबसाइट www.jagori.org